विश्वामित्र
और दो भाव-नाट्य

उदयशंकर भट्ट

प्रतिभा प्रकाशन
मुख्य विक्रेता
आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

प्रकाशक
प्रतिभा प्रकाशन
२०६, हैदर कुली, दिल्ली।

मूल्य तीन रुपया

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वीन्स रोड, दिल्ली।

सूची

प्रकाशक की ओर से

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार श्री उदयशंकर भट्ट के नाटकों ने हिन्दी-साहित्य के इस क्षेत्र की पूर्ति मे बहुमूल्य योग दिया है इसी कारण वे आज नाटक के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

विश्वामित्र, मत्स्यगन्धा और राधा—तीनो भाव-नाट्य कालान्तर से अलग-अलग प्रकाशित हो चुके हैं। इन भाव-नाट्यो की साहित्यिको ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है और आलोचना-पुस्तको और समीक्षा-लेखो में इनकी चर्चा भी हुई है।

इन नाट्यो की विषय-धारा विशेष रूप से नाटकीय तथा काव्य-प्रधान है। तीनो कृतियाँ कवि के कवित्वमय क्षणो और कल्पना के आवेग का परिणाम हे और साहित्य-जगत् में सम्यग्तया समादृत हुई हैं। मत्स्यगन्धा' को तो कलकत्ता-विश्वविद्यालय की एम० ए० की परीक्षा के पाठ्य-क्रम में निर्धारित करके विशेष सम्मान मिला है।

इसलिए इन समादृत काव्य-नाट्यो का समुचित प्रकाशन करने का हमने निश्चय किया है। विश्वास है कि इन तीनो पुस्तको का एक साथ प्रकाशन पाठको को रुचेगा।

भूमिका

कवितावद्ध नाटको को इतिहास मे गीति नाट्य की सज्ञा दी गई है। इन नाटको में मानव के हृदय के सचारी भाव का अभिव्यक्तीकरण होता है। क्रिया इनमे है, पर सामान्य नाटको की भाँति नही। इसमे क्रिया मानसिक है। इसीसे भावो का उत्थान-पतन होता है जहाँ गीति-पद्य मे स्वरसभावो का सचालन होता है, उसे गीति-नाट्य कहते हैं। गीति-काव्य भाव-नाट्यो का बहिरग है। प्रसादजी की 'कामना' में आन्तरिक और बाह्य-क्रियात्मकता है।

मन के विकारो को मनोभाव कहते हैं। दूसरे शब्दो में भाव मानसिक आवेग हैं। इनसे आन्तरिक सृष्टि का सचालन होता है। इन्ही भावो का चित्रण भाव-नाटको मे है इसी से मैंने इनकी सज्ञा भाव नाट्य दी है, गद्य की अपेक्षा पद्य मे भावो के सूक्ष्म चित्रण, कल्पना का योग रहने तथा मर्मस्पर्शिता का अवसर अधिक रहता है।

जिन नाटको का सम्बन्ध उसकी बाहरी भावनाओ, चेष्टाओ से होता है, उनको गद्य मे लिखा जाता है। पर आन्तरिक भावो की अभिव्यक्ति के लिए गद्य उपयुक्त नही होता। पद्य मे ही आन्तरिक भावो की अनुभूति अधिक सभव है। इस अनुभूति के लिये तदनुकूल मनस्थिति होनी आवश्यक है। कविता मे भावो को तरगित करने की शक्ति गद्य की अपेक्षा अधिक होती है अत भावपूर्ण नाट्य लिखने के लिए गद्य की अपेक्षा पद्य सदा उपयुक्त रहता है। स्वय कवि प्रसाद ने जहाँ गद्य मे अनेक नाटक रचकर नाटक-साहित्य की श्रीवृद्धि की है, वहाँ कामना को पद्य मे ही लिखा है। विश्व कवि रवि बाबू की 'उर्वशी' तथा कवि पन्त की 'ज्योत्स्ना' भी इसी कोटि के नाटक हैं।

मानव के स्वरूप चित्रण की दृष्टि से नाटक दो प्रकार के हैं---वाचिक और मानसिक। वाचिक को ही आंगिक या कायिक कह सकते हैं। वाचिक में अग निक्षेप का प्राधान्य रहता है अत उसमें सवाद यथासाध्य छोटे होने चाहिएँ पर यह भाव-नाट्य मानव के भाव-जगत से सम्बन्धित होने के कारण सवादो मे उच्च-स्तर का विशद मानसिक विश्लेषण करते हैं। यह विश्लेषण बहुमुखी होना सभव नही। भाव अपने मे एक अदृष्ट क्रिया है। अत उसे साधारण रूप में अल्प-शब्दो मे व्यक्त नही किया जा सकता। एक भाव के उत्तर मे दूसरा भाव समुपस्थित किया जाता है, जिनके व्यक्तीकरण मे शब्दो का लोभ किया ही नही जा सकता, अत भाव-नाट्यो या कल्पना-प्रधान नाटको मे सम्वाद कभी-कभी लम्बे होने स्वाभाविक है।

नाटक शब्द का सम्बन्ध ही नाट्य-अभिनन्दन-मे है। यह भाव-नाट्य रगमच पर सफलता के साथ खेले जा सकते हैं। पर इनके लिए इनके उपयुक्त रगमच तथा इस स्तर के भावुकता-प्रवण दर्शक हो। भावना-जनसाधारण की वस्तु नही अत भाव-नाट्य सामान्य जन-समूह के समक्ष नही खेला जा सकता। इसके अतिरिक्त भाव-नाट्य मूलत प्रतीक से बल ग्रहण करते है। एक मनोभाव के अत और दूसरे भावो के बीच मे जो तरगायित योग है वह सदा प्रतीको द्वारा ही स्पष्ट होता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'विश्वामित्र दो भाव नाट्य' में तीन नाटक है। इसलिए, इनमें क्रिया- सकलन (unity of action) नही है। तीनो की वस्तु भिन्न-भिन्न होते हुए भी तीनो में नारी और पुरुष के चरित्र का दिग्दर्शन है।

पहला नाटक 'विश्वामित्र' है। इसमें केवल तीन पात्र हैं---विश्वामित्र, उर्वशी और मेनका।

विश्वामित्र प्रचड तपस्वी और 'अह' प्रधान पुरुष है। भारतीय पौराणिक युग मे दुर्वासा और विश्वामित्र दो महान् क्रोधी और प्रचड-तपस्वी हुए। पुरुष का पौरुष तभी पूर्ण होता है जब उसका 'अह' उसे

सदैव जागरूक रखे और अहभाव की पूर्ति के लिए क्रियाशीलता हो। यह क्रियाशीलता और अहकार के दबने पर क्रोध को जन्म देते हैं। पौरुष की अन्वति उसके अहकार और क्रोध में है। दुर्वासा तपस्वी है, क्रोधी है और प्रचड क्रोधी हे। पर उनमे अहकार नही है। उनमे मनुष्य का पूर्ण रूप नही है अत मैंने दुर्वासा को इस नाटक का नायक नही माना।

दूसरी ओर विश्वामित्र मे अहकार और क्रोध दोनो है। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे। उनमें अहकार का प्राधान्य था। अहकार से ही क्रोध होता है। यह क्रोध होता है अपनी भावना-पूर्ति मे विघ्न से विश्वामित्र ने ब्रह्मर्षि बनना चाहा था पर वह अपना अहकार और क्रोध न छोड सके। वह सात्विक वृत्ति वाले न बनकर राजसी वृत्तिवाले ही बने रहे। इस प्रकार वह पुरुष ही बने रहे। जबकि इस क्षेत्र मे विश्वामित्र मे दुर्वासा से अधिक पौरुष है।

सात्विक वृत्ति होने पर प्राणी देवत्व को प्राप्त होता है, राजसी वृत्ति रहने पर उसमे मनुष्यत्व प्रधान होता है और तामसी वृत्ति हो जाने पर पर वही राक्षस कहा जाता है।

यहाँ अहकार शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में है। अहकार का अर्थ गर्व मात्र नही है। गर्व और अहकार में अपने अस्तित्व के प्रति अहभाव रहता है। अहकार अपनी व्यक्त सत्ता का सुस्पष्ट उद्घोष करता है। अपनी शक्ति का सच्चा ज्ञान होने पर 'मैं यह हूँ' रूप मे अहकार का उदय होता है। मैं अमुक से ऊँचा हूँ। मेरे समान कोई नही है। यह भावना गर्व है। इसे ही दभ कहते हैं। यदि इस दभ मे घृणा का और योग हो जाय तो वह तामस-वृत्ति मे परिणित हो जाता है।

विश्वामित्र मे अहकार की चरम सीमा है। 'मेरे तप का तीव्रतेज है बढ़ रहा।' यह अनुभव विश्वामित्र करते हैं और कहते हैं—

बुझ सकते रवि मेरे भृकुटि निपात से

× × ×

ब्रह्मा था सकेत सृष्टि रच दे अभी
और स्वय मै भी तो मै क्या हीन हूँ ?
चाहूँ तो ससार चरण पर आ गिरे।
और नये ससार बनें, नवकाल हो।

× × ×

(रचवूँ अपर विराट ब्रह्म को मै स्वय,
रचदूँ हरि, हर और विधाता इन्द्र भी।

× × ×

कौन शक्ति, अब कौन चाह दुर्लभ मुझे,
नही मुझे अब कुछ भी है अज्ञेय जग
ज्ञेय तथा अतिगूढ गिरा अभिसार सा ।।

यह हैं मानव के अहभाव का चरम विकास। विश्वामित्र मानव के इस अहभाव का प्रतीक है। उग्रतप से यह और भी तीक्ष्ण हो गया है। उसमें यह अभिमान भर गया है कि वह स्वय सृष्टि रच सकता है। आज का मार्क्सवादी भी मानता है कि सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मनुष्य है। उससे ऊपर कोई नही है। विश्वामित्र म भी यही भाव है फैसिज्म के रूप में।

'अह' प्रधान पुरुष के समक्ष नारी है। उसके दो स्वरूप है। एक वह रूप जो पुरुष के जीवन को अपने स्नेह से आलोकित करने को बढती है जो अपनी 'रूप-पिपासा' की शान्ति का आश्रय पुरुष को मानती है और उसे अपनाती है।

दूसरी ओर पुरुष के शासन में अपने को विवश अनुभव करने वाली नारी है। वह मानव की शक्ति, बल और दर्प से टक्कर लेने को प्रस्तुत है। इस नाटक मे मेनका और उर्वशी क्रमश नारी के ये दो रूप हैं। उर्वशी मनुष्य के प्रति नारीत्व के घृणा की प्रतीक है—

मैं करती हू घृणा मनुज से इसलिए,
जग का साधन हमें बना सुख ले रहा।

पर वह नारी है, उसमें अधीर और अतृप्त नारीत्व है। वह कहती है—

अरी मेनके, इस सुन्दरतर विश्व में,
जीवन-नौका मृदुल हृदय की आस सी
घन तडिता-सी शनै शनै अथ छिप्रतर
बहती भृकुटि कटाक्ष-दड ले राम का॥

× × ×

प्राणों में फिर एक बार अविराम मृदु
सौन्दर्य का एक अनुर्वर गीत है।
ताक रही हू, इधर-उधर पाती नहीं,
कोई भी आधार मुझे मिलता नहीं।

× × ×

सुन्दरता के कतर पक्ष यह कौन है,
फेंक रहा जो अधकार के कूप में?

इसके लिए वह अन्यायी समझती है पुरुष को। वह पुरुष को इतना 'बेवफा' समझती है कि—

यह कच्ची मिट्टी है चाहे लो बना
किन्तु अन्त इसका पत्थर से भी कड़ा।
यह लोहा है जो न पिघलता सहज ही
और सहज ही फिर होता है अति कठिन॥

पर मेनका स्वस्थ नारीत्व की प्रतीक है। वह नारी होने के कारण अपने को पुरुष का प्रतिद्वन्द्वी नहीं मानती वरन्—

मैं न घृणा करती हूँ नर से हे सखी
वह तो मेरे रूप हृदय की प्यास है।
जिसमें जीवन तत्त्व बह रहा है सुखद
और हृदय की सीमाओं को छू रहा।

× × ×

हृदय प्रेम आनंद हमारी सृष्टि है।
क्षण-क्षण निर्मित होता है अनुराग यह
और व्याघ्र-सा काल लीलता है जगत।
हम अभिनव की एक मनोरम रागिनी
जिसमें स्वर माधुर्य उठ रहा है सतत॥

स्नेह से आपाद मस्तक डूबकर नारी दीपक के प्रकाश-दान की भाँति स्नेह-दान देना ही जानती है। पर वह जानती है कि पुरुष के 'अहं' के पीछे क्या है। इसीसे तो मेनका अपने नारीत्व को दाँव पर लगा देती है। वह जानती है कि पुरुष का 'अहं' ही उसकी कमजोरी है। वह कहती है—

अरी 'अहं' ही इसकी कच्ची नींव है,
और स्वार्थ के सोपानों पर चढ़ रहा।
जिस पर है कंकाल मनुजता का खड़ा,
गिर जाता है एक ठेस खाकर वही।
आज नचाऊँ क्षुद्र जीव को नाच मैं,
और दिखादूँ नर में क्या कमजोरियाँ।

× × ×

किन्तु मेनका केवल इस ऋषि को यही
वश कर दिखला देगी, नारी कौन है।

पर उर्वशी तो नारी की इस शक्ति से जैसे सर्वथा अनभिज्ञ थी। वह तो नारी की बेवसी से ही परिचित है। उसे अपने नारीत्व का न तो अभिमान है और नारी होने का उल्लास। वह कहती है—

नारी प्राण-विहीन चेतना से रहित
एक भावना-पुंज पराई आस है।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की
मदिरा, जिसको स्वयं नशा होता नहीं॥

पर मेनका के लिए तो—

यह सरो है कोमल जग के तत्त्व की
और कल्पना सहज विधाता हृदय की।
× × ×
मानव के नौराश्य पुज मे दीप की,
ज्योति शिखा है, नारी, नर की चाहना।

इसके अतिरिक्त

लय में हूँ आरोह, प्राण में श्वास हूँ।

यह नारीत्व का पूर्ण ज्ञान है। नारी के आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान का परिपक्व रूप है। यह नारी का पूर्ण तथा स्वस्थ रूप है।

स्वस्थ नारीत्व की प्रतीक मेनका और उग्र विकसित पुरुषत्व के प्रतीक विश्वामित्र मे जब सघर्ष होता है तो पुरुषत्व एक झटका खाकर बिखर जाता है और नारीत्व की ओर आकृष्ट होकर पूछता है—

कौन-कौन, तुम कौन, यहाँ क्या कर रही
मेरे अन्तर रोम रोम में लीन हो?

पर नारी की उपेक्षा न उसका देव जागृत कर दिया और पुरुषत्व हुकार कर उठा—

कौन कहाँ से आया जलता दीप लघु
मुझ रवि के सम्मुख सत्ता क्या दीप की?
कौन-कौन री तू नारी, क्या कर रही?

और नारी की साधारण झिडकी—मै न जानती समझती

एक ढेर से मिट्टी के तुम कौन हो?

सुनते ही पुरुष का दभ और क्रोध उबल पडता है। विश्वामित्र पूछते हैं कि री वज्रमति, तू मुझ महामुनि प्रतापी विश्वामित्र को नही जानती? मै चाहूँ तो क्षण भर मे नवसृष्टि रचकर—

'तुझ जैसी उत्पन्न करूँ शत नारियाँ'

पर क्रोध के समक्ष सच्चा नारीत्व कही कुठित होता है। वह अपनी शक्ति के बल पर बढती है और कहती है—होगे विश्वामित्र, मुझे क्या

चक्षु-गोलकों में समाधिका सिंधु भर सा रहो और अह का आस्वादन करते रहो।'

यहाँ नारी पुरुष का संघर्ष तीव्रतर हो जाता है। विश्वामित्र मेनका का निर्लज्ज, साहसिक और मन्दाकिनी कहकर सम्बोधित करते हैं। अपने अपमान के कारण दंभ उभरता है। साथ ही कमजोरी भी उभरती आती है—

जाने जाने क्या सोता सा जागता
तुझे देखकर मन में लहरें उठ रही।

मेनका तीक्ष्ण कटाक्ष कर कहती है कि मैं तुम्हें क्यों देखूँगी, मुझे तुमसे क्या काम। इसके साथ ही वह नाचने लगती है। पुरुष के मस्तिष्क में दंभ और दुर्बलताओं का संघर्ष होता है। ज्यों-ज्यों दुर्बलता बढ़ती है, दंभ दबता है और वासना उभरती आती है। मेनका का रूप-सागर, वासन्ती वातावरण और मेनका के आकर्षण हाव-भावों के समक्ष अहम् दब जाता है। मेनका के नाचते-नाचते दूर चले जाने पर विश्वामित्र फिर समाधि लेने की सोचते हैं पर वासना का रंग इतना प्रगाढ़ हो चुका है कि समाधि संभव नहीं और वह कह उठते हैं —

अरे, भूलता रहा, प्रेम ही प्राण है।
प्रेम हृदय का उर्वर सृष्टि विलास है।
भूल गया हूँ, मैं भी था तापस कभी
तापस, नीरस जीवन की लघु प्रेरणा
जिसमें ईश्वर नहीं, अहं का वास है।

और महामुनि मेनका की मुस्कान पर कई सृष्टियां, कई योग, तप वार देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। उनका हृदय तप की केंचुल, त्याग प्रिया के विश्व मूर्त को चूमने के लिए उफनने लगता है।

मेनका प्रकट होती है, ऋषि आलिंगन को बढ़ते हैं। उनके अहंभाव को जगाती है। कहती है ओ तुम प्रबुद्ध, ब्रह्मज्ञ, महामुनि हो, यह क्या ? तुम्हें हो क्या गया है—

'मुझ न नर से कोई भी कुछ काम है
जाओ, हम तुम दोनो ही अति दूर है।
जाओ, जाओ मै कुछ सुन पाती नही।

इस प्रकार सघर्ष चलता है। मेनका जैसे-जैसे उससे दूर होती जाती है और विश्वामित्र मे भी अहंभाव घटता जाता है। इस प्रकार अहकार निकलकर मानव का वास्तविक रूप विश्वामित्र मे प्रकट होता है। वह विरह-दग्ध होकर बेचैन हो जाते है और कहते है—

अरे प्राण की निखिल ज्योति कम्पित हुई।
रोम रोम में विस्मृति की लहरें उठी।
स्मृतियो पर चित्रित करतीं सी राग को
घोर नशे सी झूम रही हो नेत्र में।

प्राण शत-शत नेत्रो से तुम्हारी मजु मनोरम-मूर्ति तरु, किसलय, मकरन्द, अलि-गुजन, पवन-प्रसर ओस, चन्द्र-तारक हास सभी मे देख रहे है।

तुम बाहर नही हो, हृदय मे छिप रही हो, अरे पिये ! तुम आँखो मे ही क्यो झूम रही हो। आँखो मे छिपी हुई को पकडने के लिए विधाता ने हाथ भी नही दिये। मे तापस, छि मै तापस नही मैं रसिक, रसिकवर हूँ यह क्या हृदय काँपता है, धडकन उडती जा रही मेरा जीवन मृत-सा होगया आशाए जल उठी, रोम भी जले हैं, कुछ भी कोई नही विरह है और आग ही सर्वत्र है

सर्वत्र तुम्ही दिखाई देती हो गुलाब का हास तुम्ही। शतदल तुम्हे खोजने के हेतु शत आँखें किये देख रहा है। मेरा रोम-रोम वाणी बन गया है। और तुम्हे विश्व मे पुकार रहे है। नही मिलोगी —

फिर जीवन मे साथ अब तो मृत्यु समस्त श्वास की साध है। यह कहकर विश्वामित्र एक शिला-खड से गिरने लगते है, मेनका बीच मे हाथ पकडकर रोक लेती है और कहती है—

प्रिय 'वियोगसे सभी 'अह' मल धुल गया।
हृदय, प्रेम-कादम्ब पियो आकठ तक
नारी सुधा, पिपासाकुल नर की सुखद
शुभ्र प्रेम की मदिर हृदय की चेतना।
ओ मानव तुम कितने सुन्दर मधुर हो।
कितने ऊँचे हृदयवान, जाना न था।

पुरुष भी कहता है—

ओ रमणी, ससार तुम्ही हो जगत का
मै अज्ञानी मूढ़, भूल सा था गया।

नारी अपने को और पुरुष को पहचान कर कह उठती है—

अरे नहीं मानव मद की है प्यास ही
यह नारी के सुखद स्वप्न के जगत में
हँस जाता आँखो में आकर जब कभी

क्रोध, मान, अपमान, भर्त्सना, ताड़ना
कहाँ न जाने कहाँ भाग जाते सभी
और हृदय पानी-सा होकर सतत ही
बहने लगता है प्रवाह में प्रेम में।
ओ प्रिय, ओ प्रिय

वह मेनका ऋषि से आलिगन-बद्ध हो जाती है। विशुद्ध नारीत्व का पुरुषत्व से सघर्ष समाप्त हो जाता है दोनो के सयोग में। इसके बाद का नारीत्व मातृस्वरूप मे जागृत होता है। पुरुष के प्रति नारी का सघर्ष मातृत्व में जाकर समाप्त हो जाता है पर पुरुष मे फिर पुराने सस्कार जागृत होते हैं।

मेनका स्वात्मजा बालिका को देख आवेग और उल्लास से कहती है—

इसके सम्मुख स्वर्ग, सुधा, सुख, हेय हैं।
हेय, मान, सम्मान, ज्ञान, अपवर्ग भी।
देखो, ऋषि देखो, हम दो का स्वर्ग यह
भोला, छल-बल-हीन, मधुर पीयूष सा।
विश्व वार दूँ स्वर्ग वार दूँ सैकडों।

पर पूर्व संस्कार जागृत होने पर विश्वामित्र कहते हैं—दैव हा

गरल अमृत के धोखे में मैं पी गया।

और नारी की घृणा का प्रतीक उर्वशी आकर फिर मेनका के स्वस्थ नारीत्व में आग लगा जाती है—

गरल अमृत के धोखे में तू पी गई

भूल गई है अरी मेनके आज तू
क्या करना था तुझे कर रही और क्या !

किन्तु मेनका केवल इस ऋषि को यहाँ
वश कर दिखला देगी, नारी कौन है ?
भूल गई ये वाक्य और प्रण जो किये

मेनका सचेत होकर देखती है और नवीन रूप कही नही पाती-

'है यह कैसा ? समझी कितनी भ्रान्ति थी ?

वह मातृत्व छोडकर चली जाती है।

विश्वामित्र के पुरुष का अहभाव फिर जागृत होता है और अपनी दुबलता अनुभव करता है। अब नारी की चेतना पर रीझने को वह सुख पर दुख का वज्र गिरना मानता है। वह ऊपर उठने की चाह को जीवन की सफलता तथा मानव का अधिकार मानता है। मेनका के जाने पर विश्वामित्र कहते हैं—

गई हृदय में आग लगाकर उड गई
गई व्यर्थ-सा कर नर के उल्लास को।

पर बाद मे सोचकर कहते हैं—

'है यह क्या, यह क्या, मैं भूला लक्ष्य निज।'

कुछ भी स्थायी नही विश्व मे एक 'मैं'—
का मिल जाना ही महान् में सार है।
क्यो न आज फिर 'अह' खोजने को चलूं।

अपने पतन की ग्लानि से आतप्त ऋषि बालिका का भी मोह नही करते।

नही बालिके, मैं न रुकूँगा तनिक भी।

मानव मे अहकार, उसका धीरे-धीरे कम होना, प्रेम का उदय होना, प्रेम की परिणति, विजय के बाद विलास का होना और तदनन्तर मानव मे फिर पुराने सस्कार जागृत होना, यही क्रम है। मानव के यही सचारी भाव प्रतीक रूप मे इस भाव-नाट्य मे उपस्थित किए गए है—

दूसरा नाटक 'मत्स्यगधा' है इतिहास मे इसका नाम सत्यवती ही है। भारतीय पौराणिक साहित्य म मत्स्यगधा ही चिर-यौवन की प्रतीक है। इस यौवन मे काम-सगीत गाता है। शान्तनु ससार है जिसने उसे भरमा लिया है। पराशर—मानव-यौवन की कमजोरी है। यौवन की वह ऊँचाई है जहाँ मत्स्यगधा ने आत्मसमर्पण किया है। उद्दाम यौवन की तृप्ति के लिए उसने मत्स्यगधा को चिर यौवना होने का वरदान दिया है।

जीवन-रथ पर चढ कर मत्स्यगधा जब बाल-काल को पीछे छोड देती है, और यौवन की मरोर प्राणो के तारो मे झनझनी उत्पन्न करके विह्वलता की चादर फैला देती है, मत्स्यगधा यौवन की देहली पर खडी भीतर झाँकती है, उसे सर्वत्र सौंदर्य दृष्टिगोचर होता है।

···सुन्दर महान् सब।
नित्य देखती हूँ सखि, मुक्त-गुच्छ तारिका का
नभ में अनभ्र हास, क्षितिज के मुख पर

होली सी लाल लाल, होली खूब जलती है,
जैसे सारे नभ का अनल जल-जल कर
भवहीन उसे कर देने उठ आया आज।

वह स्वयं आत्म-विभोर हो उठती है। उद्दाम यौवन सिर उठाकर
चौराहे पर उसे चारों ओर देखने को विवश कर देता है—

मानता नहीं है मन, यौवन की क्या लहर
कहता जगत जिसे, होगी वह कैसी भला ?
कौन जानता है, कौन सोता मेरे पास छिप
जान सकना कठिन। किन्तु देखती यही कि कोई
राग सब जाने मेरे प्राणों की बीन पर।
चल चल आता है। कौन है बता तो वह

चुपचाप शरीर में प्राण में छा जाने वाला यौवन जो करवट बदल
रहा है, उससे मत्स्यगन्धा सर्वथा अपरिचित। इसी से वह अपनी सखी
सुभ्रु से पूछ बैठती है—

जाने कैसा हो रहा है, कैसा यह हो रहा है,
मेरी सब इच्छा की सीमाएँ बिखरती हैं।
जैसे मैं अनन्त मद, किन्तु हुई मदहीन ?

सखी भी क्या बताए वह अपनी बात कह देती है—

मैं क्या हाय, मैं क्या जानूँ जानती नहीं हूँ कुछ।
मैं तो चाहती हूँ शुभ सुमन की मंजुमाल
बन जाऊँ, बन जाऊँ शरद सुधांशु-सी
और नभ-हास का बिलास लिये फैल जाऊँ
खोल निज हृदय बिखेर दूँ प्रमत्तमधु।

बस इसी स्थिति में छायामय अनंग प्रवेश करता है। मत्स्यगन्धा
पूछ बैठती है—'आप कौन ?' अनंग बताता है—'मैं अनंग विश्वरंग'
मत्स्यगन्धा—'काम क्या ?'

अनंग—

'प्रताडना, विमोह मृदु'

× × ×

सुमनो में पुष्परस, कण्ठ कल कोकिल में,
हूँ प्रगल्भ हास में, जपा में अरविन्द कुंच
गर्विता सुमालती में मन्दिर मदिर गन्ध।
यौवन में तृप्ति-हीन तृष्णा, प्ररोह लोम ॥

मत्स्यगन्धा—

किन्तु प्रिय मानव में— !

अनग—

सैकडो वसन्त हास।
शत शत उद्गार, शत शत हाहाकार,
प्रणयो में पीडित हृदय का अवर्ण्य छद।

मत्स्यगन्धा—

तुम्हें देख हे अनग, प्राण नव आस लाया।

× × ×

कैसे तुम सुन्दर ज्यो मिश्रण हो शैशव का
यौवन का, तारिका का, विधु का, विलास सब।
आहा तुम्हें देख मानो जीवन परम साध
जुड आई हो ज्यो बाल रवि ऊषा सग सग

× × ×

अष्टमी के चन्द्रमा की फाँक ऐसी शुभ्र आँख
कर्ण कुहरो से कुछ कहने चली है आज।

अब अनग स्पष्ट कह देता है—

मैं तो प्रिय यौवन अनन्त हू, अनन्त वान
यौवन अनन्त मान, ध्रुव सी विश्व माल,
विश्व के समस्त सुख का हूँ एक ज्योति पुज
पद चाप-हीन नित भू पर उतरता।

तुझे अपनाने आया

यौवन आने पर यौवन का रहस्य समझने पर स्वत उसके उपभोग का प्रश्न सामने आता है। इसके लिए कोई पात्र चाहिए, कौन वह हो, कैसा वह हो, मैं क्या हूँ वह कैसा हो सकता है, आदि प्रश्न मानस मे उठते हैं। मै मल्लाह की बेटी, मेरा काम केवल यात्रियो को पार उतारना, मैं इस योवन का क्या उपभोग कर सकूगी, आदि कितने ही भाव मानस मे तडितवत् आये गये और मत्स्यगन्धा चिल्लाने लगी—— ओ अनग ओ अनग !

मैं दरिद्र के वंट की बेटी हूँ, उपाय हीन।
एक उल्का पात सी निरर्थ धरा धाम पर
छोड दो मुझे न व्यर्थ पात्र करो हे अनग।

पर इससे अनग भला कैसे रुके वह तो अननदानी है वह कह देता है——मैं न देखता हूँ धन, वैभव अतुल बल मत्स्यगन्धा कहती ही रह जाती है कि——

किन्तु मुझे चाहिए न हे अनग, यह दान
मेरे लघु प्राण में अनन्त अब्धि भवभार
कैसे आ सकेगी हाय, कैसे मैं उठाऊँ बोझ।

अन्त मे अनग कह देता है——अरे यह अवसर भी कब बार-बार मिलता है। एक बार मिलकर भी जब ज्ञान आने लगता है तो वह एक बार का यौवन भी चला जाता है।

बस यौवन दान दे अनग चल देता है। शैशव सर्वथा सो जाता है और यौवन अँगडाई लेकर जाग जाता है।

यौवन की इच्छा सभी में जागृत होती है। यौवन के साथ-साथ मत्स्यगन्धा मे वासना का भी उदय होता है। यौवन का वास्तविक स्वरूप सृष्टि-सृजन है, इसीलिए उसमे वासना आती है। वासना के जागृत होने पर मिलन की भावना जगती है। वासना शान्ति के लिये पुरुष का होना आवश्यक है।

यौवनागम और अनग की क्रीडा मे रत्त मत्स्यगन्धा कह उठती है—

यह गन्धि, यह ग्रन्थि सुलझेगी या कि नहीं,

× × ×

दाह कर सुख कर पिपासा क शान्त होगी ?

उसी समय पराशर उस पार जाने के लिये सामने उपस्थित होते । मत्स्यगन्धा उसे देख अपने आप से कह उठती है —

हैं हैं, यह कौन, प्रिय यौवन का एक दीप
नर अभिलाषा का निपट अवसान पुंज ।

मत्स्यगन्धा जागृत नारीत्व की प्रतीक है और पराशर अपरिचित पुरुषत्व का । उसका नारीत्व आत्म-समर्पण के लिये विकल है और पराशर का पुरुषत्व उसे ग्रहण करने के लिये ।

किन्तु समर्पण से पूर्व समाज, धर्म, लोक-लाज सभी का भय, सभी का भयावह स्वरूप सामने आता है मत्स्यगन्धा कहती है—हीन जाति तो भी है, समाज का अनन्त भय । पराशर उसे यह कह तुष्ट करते हैं—

समाज का विधान तो मनुज कृत ।
छिन्न कर देता नहीं जो इसे बनाता कभी
मानव की प्रेरणा का फल ही नियम है ।

इस पर वह धर्म की बात कहती है । पराशर समझाते हैं ।

धर्म है अनन्त रूप ।

× × ×

सृष्टि मूल धर्म है, प्रकृति मूल कर्म सदा ।
श्रद्धा मूल भक्ति है, समाज फल मूल है ।

× × ×

मानता है मानव जिसे ही धर्म वस्तु आज
कल वही होती अविधेय नर लोक मे ।

अन्त में वह नारी धर्म की बात कहती है -

अपने को चीन्हती, स्वधर्म को भी चीन्हती
नारी के स्वरूप, सुख, शोभा में छिपे हैं देव,
सख्या-हीन अभिशाप, सख्या-हीन यातना
वासना का वेग बहता है अति भीम वहाँ,
कृच्छ्र दमनीय, ग्रह प्रलोभन पुंज और
आकर्षण। नारी एक श्वेत सम पट सम
जिस पै तनिक बिन्दु पात भी कलंक है

× × ×

अपयश, अपलाप नारी के लिए है सृष्ट
जीवित ही नारी का मरण कर डालते।

पराशर उसे स्पष्ट समझा देते हैं कि----

ऊँच नीच कोई नहीं, पाप पुण्य कहीं नहीं
कर्माकर्म कुछ नहीं, ओ अनगरजिते !

× × ×

मानव समस्त विश्व-चेतना का मूल है।

इस पर वह अपने कन्या होने की बात कहती है। पराशर उसे भी कलंक-हीन बताते हैं। मत्स्यगन्धा अपने इस यौवन को चिरस्थायी देखना चाहती है। पराशर वरदान देते हैं कि अनन्त मद-राशि हो। पर साथ कह देते हैं कि नारी-प्रिय भी सदा प्रिय नही लगता है।

मत्स्यगन्धा को अभीप्सित होने पर उसे चिर यौवन का वह वरदान देते हैं और इसके बाद नारीत्व समर्पण करता है, पुरुष उसे ग्रहण करता है।

जागृत नारीत्व के समर्पण और सृष्टि-सृजन के प्रयत्न के बाद उसे जिस आनन्द का अनुभव होता है वह चतुर्थ दृश्य मे वर्णित है। इस आनन्द में विस्तृत कड़ियों को वह जोड़ने का यत्न करती है।

मैं न कुछ कह सकी, रोक ही सकी न हाय
इन्हें इस कार्य से, अकार्य से विमूढ़-सी।

इस पर मत्स्यगन्धा कहती है—

हाँ हाँ वह वरदान हुआ सत्य आज ही तो
कोई भी न काम्य आज, कामनाएँ दासी मेरी

× × ×

मेरे ही यौवन का प्रकाश 'शीत रश्मि' लिये
पृथ्वी पुलक पल घूमता है झूम झूम ।

× × ×

मेरे ही यौवन का प्रकाश 'उग्ररश्मि' लिये,
जीवन में रस का प्रभाव भरता है नित
औ' अनादि सुन्दरी उषा के स्निग्ध आनन को
चूमने की लालसा में दौड़ता-सा दीखता,

× × ×

बालक है सीढ़ी एक जीवन के लक्ष्य-हेतु
यौवन ही जीवन का एक मात्र ध्येय सखि ।

'और जरा क्या है ? यह सुभ्रु ने पूछ लिया । मत्स्यगन्धा कहती है—

'हाँ जरा है पतझड़ ही तो'
एक कंकाल मात्र, जर्जर रसहीन
आज इस यौवन की मै अजस्र रसधार

यौवन के इस दुर्दम, उद्दाम तथा अजस्र वेग मे रोक लगाती है । मत्स्यगन्धा के यौवनाधार महाराज शान्तनु आखेट के समय मत्स्यगन्धा के ध्यान न होने से असावधान होते हैं, तभी सिंह ने वेग से आक्रमण कर दिया था । आहत अवस्था मे घर लाये गए । इसकी सूचना जब सुभ्रु मत्स्यगन्धा को देती है वह चौंक पड़ती है । यौवन—चिर यौवन के आनन्द का जो उल्लास अब तक उसके मानस को आप्लावित किये था, उसका वेग एक झटके मे उतर जाता है और इसके सामने प्रश्न उपस्थित है—

सत्य ही क्या यौवन के अन्तर में कंकाल
नाचता है चुपचुप धूमिल-सी रेख डाल ?

तत्पश्चात महाराज का निधन हो जाता है। महाराज शान्तनु ससार के प्रतीक है। उद्दाम यौवन को ससार भरमा लेता है जब उसकी कामना पूर्ति का समय आता है, ससार मे सदा कोई न कोई बाधा आ जाती है। यहाँ शान्तनु का निधन, वासना पूर्ति के साधनो की समाप्ति का प्रतीक है। उद्दीप्त यौवन वासना पूर्ति के साधनो के अभाव मे प्यासा का प्यासा ही रह जाता है। वासना पूर्ति न होने पर जो निराशा और अशान्ति मानस मे उत्पन्न होती है, वह यौवन-दीप्ति से सघर्ष करती है। यही सघर्ष छटवे दृश्य मे वर्णित है

मत्स्यगन्धा कहती है--

> यौवन के सागर का अन्त ही नहीं है कही,
> मेरा मन तूफानो में उड़ा हुआ जा रहा।
> मेरा स्वर्ग हीन हुआ हाय, पुण्य पाप बना,
> आशा औ उमग हुई भार है अनन्त की।
> × × ×
> जलती हूँ रवि-सी अनन्त पाप पातकिनी,
> जलती हूँ अग्नि-सी प्रलम्ब देह-यष्टि ले।
> यौवन अनन्त दान, यौवन अनन्त मान।
> अभिशाप वरदान---अपलाप वरदान ?
> × × ×
> हन्त, हत यौवन का अन्त हीन यह वेग
> धूमिल निविडतर, घोर तर घन तर।
> हे महान् ऋषिवर पाराशर, क्यो दिया था,
> वर यह खरतर।

और अतृप्त यौवन मे उषा नित आग बरसाती आती है, रवि शरीर को आ-दिवस भूनता रहता है। सध्या प्राणो के तार खीचती है, यामिनी यम गर्जना करती है, पीडाओ को मूर्त रूप देती है।

वह बरबस चिल्लाने लगती है—

'अरे कब अन्त होगा इस 'मद का।'
भूली नाथ, भूली नाथ, ले लो यह वरदान,
लौटाओ लौटाओ प्रभु, क्षण भी युगान्त है।
यौवन का वेग ऐसा प्राणहीन देखा कब ?

इसी समय अतृप्त यौवन की खीझ में अनग उदित होकर पूछता है—

'देखो, अब कैसा लगता है ओ तरंगिणी।'

कभी कामके अभ्युदय को जीवन सुखकर मानता है। यौवन के उभार में कामका आगमन वरदान होता है पर बन्धन-युक्त, अतृप्त, साधन-हीन, पंगु यौवन में उसका आगमन उतना ही दुखकर होता है। अतृप्ति की खीझ में मत्स्यगधा अनग से पुकार कर कह उठती है—

तुम मेरे अभिशाप, जीवन के आलाप
ले लो, लो दिया जो ले लो, अविलम्ब है अनग।

अनग भला अपना धर्म कब छोड़ता है वह तो कहता है—

यौवन भी जीवन का एक अति मृदुपल,
विश्व दृढ़ता के हेतु प्राप्त है जगत को।
× × ×
पियो, सुखमय यह यौवन का तृप्ति-हीन,
तृप्ति-हीन पाण अभिषिक्त हो विलास से।
तोड़ दो नियम जाल मनुवेश मेरा यह''
पियो कण्ठ तक, पियो ओठ तक ढाल-ढाल
यौवन महान् है, अलभ्य है जगत में
विश्व डूब जाए, भूति, विभव भी डूब जाए
प्रिये, पियो अमृत अजर मग्न मग्न हो।
मत्स्यगधा कह उठती है—
हलाहल यह मधु पीना है कठिनतर
जीना है कठिन सम दारुण विपत्ति सा

लोटाओ अनग यह वेदना समुद्र सी
सीमा हीन अन्त-हीन मन-हीन, प्राण-हीन।

किसी की इच्छा से यौवन भला कब आया है, कब गया है, काम भावना कब उठी है और कब समाप्त हुई है। स्थितियाँ अनुरूप हुई तो यौवन और अनग वरदान है अन्यथा अभिशाप। जो यौवन को वरदान ही माने उसके लिए अभिशाप भी वह हो सकता है, अनग को इससे क्या। यौवन अभिशाप हो जाने पर भी अनग अपना धर्म कब छोड़ता है—

आजीवन यौवन का वरदान है सुमुखि,
कब न हुआ है भार यौवन विफल का
यह तो रुदन तेरा अन्त-हीन फल-हीन
आजीवन वेदना से जड़ित अपग सा।

चिर यौवन होने का वरदान माँगने वाली के लिए विफल यौवन क्या है, यह यहाँ बताया गया है। यह शाश्वत यौवन और अशान्ति का संघर्ष है। अशान्ति की चरम सीमा निराशा होती है। मत्स्यगधा अनग से प्रार्थना अस्वीकृत हो जाने पर निराश कह उठती है—

हाय, मेरे जीवन का कैसा यह अपरूप
अपमान दीप्त है। न अन्त है अनग रग ?

निराशा घनीभूत होने पर वह कहती है—

डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओ,
डूबो धरे वेदना में मेरी ही युगान्त की।

इतना कह वह मूर्च्छित हो जाती है।

शैशव के अवसान पर यौवन का उदय, प्राणो की साँसो मे काम का सगीत, यौवन के खुमार मे ससार का रँग जाना, जीवन का यह यौवन शाश्वत हो ऐसी कामना होना स्वाभाविक है। यौवन मे वासना का उदय, वासना-पूर्ति के लिए पुरुष समागम, तज्जन्य आनन्द, ससार आनन्द-मय दिखना भी स्वाभाविक है। फिर यदि यौवन की तृप्ति का मार्ग अवरुद्ध हो जाय तो मानस मे जो हलचल होती है, जो अशान्ति का

सघर्ष मचता है, वही इसम प्रतीक रूप मे चित्रित है।

मत्स्यगधा यौवन की प्रतीक है, अनग उसके अन्दर की उमग है और यह नाटक चिर यौवन तथा उसकी अतृप्ति और अशान्ति का सघर्ष है।

तीसरा नाटक 'राधा' है। इसम भी यौवन का चित्रण है पर पहले दो नाटको मे सर्वथा भिन्न। यौवन से दो पकार का होता है—(१) वासनामय (२) वासना-हीन (आध्यात्मिक)। राधा का यौवन वासना-हीन था। इसमे उदात्त स्त्रीत्व का चित्रण है।

राधा मे सात्विक उदात्त स्त्रीत्व है। सात्विक स्त्रीत्व का चरम रूप जिसमे घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, छल आदि कुछ नही। राधा के प्रेम मे वासना नही है। वह प्रेम के सात्विक रूप का प्रतीक है। राधा का प्रेम रूप का, भक्ति का और विश्वास का है। मेनका और मत्स्यगधा की भाँति वह किसी के समक्ष आत्म-समर्पण नही करती है।

श्रीकृष्ण ईश्वर नही, विवेकी, ससारी पुरुष है। उनमे ज्ञान और हृदयरस का सघर्ष चलता है। हृदय मे वासना भी है पर अन्त मे वह उस पर विजय पाते है। कुछ आलोचको का कहना है कि श्रीकृष्ण इसमे भगवद् रूप मे उपस्थित होते है और उनके इस रूप के कारण ही राधा का प्रेम दब गया है। पर श्रीकृष्ण को इसमे भगवान रूप मे देखना गलत है।

नारद भक्ति का अहकार है। उनमे आत्म-समर्पण है, पर पुरुष के प्रति, स्त्री के समक्ष नही।

राधा का जो रूप इसमे प्रस्तुत किया गया है वह सात्विक है। आध्यात्मिक होकर भी वह मानवी है। उसमे मत्स्यगधा की भाँति यौवन तृप्ति की चाह नही है।

सृष्टि में जो राग चलता है, जिसमें हर कण बँधा हुआ है उसे देख कर उसके प्रति मोह होते हुए भी राधा का ध्यान, उसके मानस की सभी वृत्तियाँ उस मुस्कान मे केन्द्रित हो गई है जो उसने कृष्ण की देखी थी। वह दृग सम्मोहक रूप देख—

भूल सब अपना पराया स्मृति विफल का भार लेकर
ढो रही हूँ, क्या न जाने, क्या न जाने खो रही हूँ ?

× × ×

एक मृदु मुस्कान उस दिन की समाई आँख में है
जो हृदय को छील क्षत सी उभरती अनुराग-मंडित।

यह सब क्यो हो रहा है, वह यह भी नही जानती विशाखा जब उससे पूछती है कि क्या यह भरा-सा रागमय सुख तुझे प्रिय नही लगता तो राधा उसका उत्तर न देकर अपनी बात कहती जाती है—

हा, न मै वह भूल पाई एक छवि जो दृष्टि में आ
कही रागो में समायी विकल प्राणो से बिखर कर
मुझे ही विक्षत किया सखि, मुझे ही पीयूष-धन दे।
मै नदी सी बह रही थी स्वय अपने बाहु के ही
दो बनाकर दो किनारे । मग्न थी अपने हृदय में
मग्न थी बहती चली ही आ रही अनजान पथ से
कुछ न लेकर कुछ न पाकर, एक केवल आ सकी यह
अन्य जन-सी भव उदधि से पार होऊँगी कभी हँस।
कभी रोकर भी बिता दूँगी विशाखा विरह सा यह
दीर्घ जीवन महापथ परिचित न होकर भी किसी से !

विशाखा—तो हुआ क्या ?

राधा—

क्या हुआ, मै मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टि-पथ में आ गये वे क्या कहूँ री !

और इनका राधा ने जो परिचय दिया, उसे सुनकर विशाखा कह उठी कि यह तो तुम कृष्ण के विषय मे कह रही हो, क्या तुम्हारे पिता कृष्ण के प्रति तुम्हारा यह अनुराग करना सह लेंगे। वह कस के सामन्त है। साथ ही वह मर्यादा अपने कुल की लाज को किसी तरह कलंकित होते न देखना चाहेगे। राधा सब सुनती है और स्पष्ट कह देती है—

जानती हूँ सखी यह सब वश नही है किन्तु मेरा।

(विवश होकर)—

क्या कहूँ, कैसे कहूँ, सब कुछ हुआ विपरीत भीतर
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं,
पैर ले जाते मुझे अनजान मे यमुना नदी तट
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है।

राधा के प्रश्न ने नारी-हृदय के कोमलतम तन्तु को छू दिया विशाखा खुल पडी—

हाय, कितना सरल, कोमल, तरल है नारी-हृदय यह
दूध-सा मीठा, धवल, निश्छल बनाया कौन विधि ने।

जो सौन्दर्य और प्रेम पाकर गल-गल कर स्वयं पिघल जाता है और प्रिय-विधु देखकर कुमुद-सा स्वयं खिल जाता है, फिर जग के नियम बंधन कुछ भी नही देखता।

फिर तो दोनो अपनी-अपनी कह उठती है—राधा के लिए तो और—

सभी अन्तर में वही छवि, सभी प्राणो म वही स्वर
सभी प्राणो में वही धुन, सभी गीतो में वही लय।

× × ×

और—

देखती हूँ सभी के धन शक्तियाँ, मर्याद, सीमा,
अवधि सारी तोड़ डाली इस अलौकिक व्यक्ति ने आ।

विशाखा के लिए—

गूँजती है कान मे ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप वह छवि
नेत्र में, सब खो गया है, हो गया है कृष्ण-मय जग।

विशाखा ने बताया कि वह किस तरह घर कृष्ण के कारण पिटी, क्या यातना झेली, फिर भी कृष्ण को देखने उनके घर चली गई। उसके वर्णन से राधा के भी दर्शन-लालसा जागृत होती है। विशाखा कहती

कि उसके लिए विषम मार्ग पर चलना होगा। राधा कहती है—

यही बस, मै लाज तज, मर्याद बधन तोड कुल जग
त्याग सब कुछ, बन वियोगिनि मुक्त जीवन हो सकूँगी।

न कोई मेरा पति न मै किसी की नारी। मुझे किसी का बन्धन प्रिय नही। दम्पति के धर्म का पालन मै नही कर पा रही हूँ। अब तो—

हाँ, चलो यह हृदय का द्रव बह चले उस ओर, उस पथ
जहाँ जीवन गर्त मे तैरा करे, डूबा करे री।

कृष्ण का सम्मोहक रूप देखकर आसक्ति होने मे राधा मे नारी का साधारण रूप है पर वास्तविक स्त्रीत्व आगे चलकर निखरता है। सात्विक प्रेम प्रकट होकर उदात्त स्त्रीत्व मे परिणत होता है।

कृष्ण के असाधारण सम्मोहक रूप के प्रति आकर्षित राधा कृष्ण की वशी सुनकर जब वहाँ पहुचती और सुनती है तो कण-रस आस्वादन के बाद पूछती है—

कौन तुम अनुराग सागर कौन तुम मन्मथ हृदय के ?
अरे बोलो, प्राण बोलो, तान ऐसी छोडवी क्यो,
सभी जृम्भित गात मेरा सभी कम्पित विश्व कानन
अग रोमाचित हुए है, रोम है उद्‌बुद्ध चेतन।

कृष्ण सरल भाव से कहते है—

विश्व कण-कण में सुवासित व्याप्त है पीयूष सरिता
जो हुई प्रच्छन्न नर की कालिमा से छल कपट से
उसी को जाग्रत किया है, प्राण ने वशी लहर से।
अक्षय मधुर रस प्राण-पावन
म लहर हूँ एक उसकी उसी सुख की उसी स्वर की।

इस पर राधा पूछती है—परन्तु यह रह-रहकर हमारे हृदय क्यो मथती है, और आपकी छवि हमें अग्राह्य पथ का पथिक बनाती है। क्या तुम अजागनाओ को मीठी वेणु बजाकर लुभाते नही हो और अजान

ललनाओ को जो हय अहेय को नही जानती, उन्हे खीच नही लाते हो। कृष्ण कहते है—पर इसमे मेरा दोष क्या ? राधा कहती है यह तो वैसा ही हुआ कि वन म चारो ओर दावाग्नि लगाकर बीच म छोडकर उससे कहना कि तुम यहाँ क्यो आ गये। कृष्ण कहते हे कि यदि नदी बह रही हो और कोई उसमे उभरने की साध लेकर बीच मे कूद पडे तो इसमे नदी का अपराध क्या है ?

अब राधा स्पष्ट कहने लगती हे—

कौन नारी ऐसी है जिसमे पिपासा धधक रही है, वह तुम्हारी हृदया कर्षक वेणु ध्वनि सुनकर तथा तुम्हारी भुवनमोहिनी छवि देखकर मोहित न हो जायगी और कुलकान लोकलाज न तज देगी ।

कृष्ण यह सुनकर प्रेम के वासना रूप का खण्डन करते हैं और कहते है कि हरित पर्वत माला, पूर्ण कला धर, अतल सागर, उफनती सरिता, निर्झर, उषा, साध्य लाली, धवल रजनी आदि प्रकृति के उपकरण विषय वाहक ही है क्या इनका और कोई उपयोग नही ।

है नहीं सौन्दर्य का सगीत का उद्देश्य राधे
वासनावादी बनाना किसीको उत्तप्त करके ।

× × ×

क्या न है उद्देश्य कोई प्रेय का सौन्दय का भी
सिवा केवल विषय का सुख और इन्द्रिय तृप्ति चचल ?

राधा पूछ उठती है—

प्रेम क्या यह नहीं, कहता जगत जिसको हृदय तपण
मन समर्पण, तन विसर्जन, प्राण प्रिय के चरण में गिर ।

और कृष्ण बताते हैं—

यह नहीं है प्रेम, यह उन्माद का है रूप गर्हित
देख सुन्दर तर किसी को वासना आकृष्ट होती ।

× × ×

प्रेम आकर्षण तथा आनन्द आत्मा की अलंकृति
उसे तन का दास बनने नही देना शुभ्र, सुन्दरी !

राधा पूछती है कि क्या यह सम्भव है, कृष्ण बताते है कि मानव जो करना चाहे, वह कर सकता है उसके लिए असम्भव कुछ नही है। राधा इन गहराइयो मे न जाकर अपने हृदय की गुनगुनाहट बताती है कि प्राण मे एक आग सुलग रही है, एक जलन मची है, मानो अग्नि मदिरा पीली हो। प्राण के सगीत गायक, मैं और कुछ तो नही जानती, इतना जानती हूँ कि मचलने वाला मन है और उसमे सहस्रो मनोरथ स्वप्न का ससार रचकर कुछ गा रहे है जिसे समझ सकना दुलभ है। मै तो केवल यही चाहती हूँ—

एक तुम हो, एक वशी, मैं सुनूँ, सुनती रहूँ, निशि,
दिवस, पल-पल, पक्ष, ऋतु-ऋतु, वर्ष युग कल्पान्त तक भी।

यहाँ यह जो प्रेम और हृदय का सघर्ष है, वह सात्विकता का सघर्ष है।

कृष्ण पूर्ण विवेकी पुरुष है, वह अपना उद्देश्य बताते है—

मैं जगत का पाप, मिथ्याचार, छल विद्वेष हरने
और वास्तव धर्म की सस्थापना का सुनिश्चय ले,
तथा नैतिक प्रेम का ही रूप जग को दिखाने को
यहाँ आया हूँ महाव्रत यही मेरा सत्य राधे।
है न मुझमें पाप कोई, शुद्ध सत्य अनन्त अतिबल।

इससे राधा के हृदय मे सशय होता है क्या तुम मानव नही हो अवतार हो——

सत्य कहना हे कन्हैया, तुम न साधारण मनुज हो
इन्द्र के अवतार हो या, वाम काम प्रपंच हो प्रिय ?

× × ×

काम से सुन्दर कला के पूर्ण, अशिथिल सृजन, चित्रण
प्राण से अतिसूक्ष्म सचालन, प्रचालन कर्म से गुरु
गहन गाथा हे अनिर्वचनीय माधव, ब्रह्म जग के !

कृष्ण कहते है कि सभी मनुष्य ऊपर उठ सकते है -'सभी मे शक्ति

के कण हे' यह मै जानता हू ।

राधा कृष्ण को समाज-सुधारक के रूप मे नही वशीधर मनमोहन के रूप मे देखना चाहती है, वह कहती हे—

फिर सुनाम्रो वही वशी-तान-गायक, फिर सुनाम्रो

× × ×

मैं सुनू सर्वाङ्ग से, सब कामना से, चेतना से।

× × ×

लहर-सा लहरा उठे थिर-थिर थिरकता जगत-सागर

कृष्ण वशी वजाते हैं। राधा मुग्ध होकर सुनती रहती है। वशी सुनकर सभी सखियाँ श्रा जाती हैं। वशी के साथ ताल देकर यह नाचने लगती है। नाच श्रौर वशी-वादन के बाद राधा श्रात्म-विस्मृत हो जाती है। श्रानन्दातिरक से कहती है—

उसी ध्वनि से, उसी स्वर से, उसी लय से, मूर्च्छना

मे सभी भूली कहाँ हूँ, कौन हूँ, क्या रूप मेरा ?

राधा का दृष्टिकोण है—

हम क्यो न पियें छल-छल करते जीवन का पारावार सखे

हम कितनी लघु कितना जीवन कितना मीठा संसार सखे !

श्रौर कृष्ण का दृष्टिकोण हे—

है यही तो शुद्ध सात्विक सरस रस जीवन-मही पर

हो न उसमें यदि कहीं भी लेश मानव-वासना का।

मथुरा जाने से पूर्व जब कृष्ण राधा से मिलते हैं तो विशाखा श्रौर राधा मे कन्या के वर चुनने के सम्बन्ध मे परस्पर बातचीत हो रही होती है। कृष्ण उस सम्बन्ध तथा श्रन्य धर्म, समाज, मानव के निज के कर्म श्रादि पर कृष्ण जो विचार व्यक्त करते है उनसे राधा बडी प्रभावित होती है पर प्रेम को वह क्या करे। वह कहती है—

महा गुरु, रमणीय, प्रियवर, छवि सुखद, मव सिधु मेरे

तुम्हें पाकर भूल जातीं हम सँभार-सुधार माधव।

राधा चाहती है कि कृष्ण का रूप शुद्ध प्रेमी का हो पर कृष्ण विवेकी पुरुष हैं, वह समर्पण नही करते राधा कृष्ण को दूसरे रूप में देखती है और कृष्ण उसे दूसरे रूप मे । दोनो एक दूसरे को अपने-अपने रूप मे देखते-देखते चलते रहते है । राधा जब कहती है कि --

विष भी पी सकूँगी, मर भी सकूँगी पर जी न सकती बिन तुम्हारे'

तो कृष्ण इसे अशुभ और अविवेय बताते है । तब राधा निहोरे कर के कहती है कि कृष्ण तुम्हारी खातिर मैने घर मे कौनसा अपमान नही सहा ? कौनसा आतक नही झेला ? कौनसी पीडा मैने हँसकर नही झेली ? भला मै कब तक प्रलय के ज्वाल-सागर को पी सकूँगी ?

इसमे कृष्ण को वासना की गन्ध दिखाई देती है और कहते हैं कि राधे, मैं यह कुछ नहीं जानता, न मेरा यह लक्ष्य है, तुम वृषभान की कुलीना कन्या हो, तुम्हे यह कहना क्या उचित है, यह प्रेम नहीं, यह भ्रान्ति है और जग की उद्भ्रान्ति है । यहाँ कृष्ण ने प्रेम की अपनी परिभाषा की है ।

यह सुनकर राधा घबरा कर कहती है— माधव मै, मै कुछ नही चाहती । मै जानती भी नही कि मै क्या चाहती हूँ । हाँ, यह अवश्य है कि हृदय मे एक तप्त पिपासा उबलती रहती है, प्राण चचल होता है, पर मुझ मे वासना का लेश भी नही है, पर न जाने क्या कुछ सदा कोई खुरचता रहता है और मन तुम्हे पा सहस्रो शशि-किरणो से स्नात हो उत्फुल्ल हो जाता है । और—

कहीं भी कुछ भी न माधव, तुम्ही केवल तुम्हीं सबल !

राधा पैर पकड लेती है । कृष्ण उसे उठाकर अपने मथुरा-गमन की बात सुनाते है । राधा पहले आँसू भर लाती है, फिर मूर्च्छित हो जाती है । कृष्ण विशाखा के सहयोग से उसे सचेत कर अपने मथुरा गमन का उद्देश्य, दुष्ट, प्रजा-सहारक कस को समाप्त करना तथा देश सेवा करना बताते हैं ।

राधा उनका उच्च गौरव देखकर उनके पाँवो पडती है और कहती है —

आज जाना है कन्हैया, आपको मैने निकट से
(घोर कष्ट के साथ) आपकी यात्रा सुफल हो
पाओ सफलता प्रिय, और अपनी क्या ?

इसके बाद राधा केवल प्रेमी राधिका नही रह जाती भक्त राधा हो जाती है । तडपते प्रेम के साथ उदात्त भक्ति भाव का सम्मिश्रण होकर—

फूल-सा हँस झड चुका है, हृदय का उल्लास मेरा
सतत पतझर से घिरा-सा, अमा-सा आकाश मेरा
कही भी तुम को न पाकर,
आँसुओ में छवि पुलकती,
कौन युग से पथ निरखती ।

ऐसे ही मे अपने भक्ति के अहकार से आपाद-मस्तक प्लावित नारद आते है । राधा के सामने आने से पूव वह कहते हैं---

भूल री, सब भूल राधा, क्यो चली उस ओर उस पथ,
जहाँ का आधार केवल एक टूटी भग्न आशा ।

यह सुन राधा चकित हो जाती है । चकित क्यो न हो जो उसके जीवन का आधार हो उसे कैसे भूल जाय राधा, वह स्पष्ट कह देती है -

नही अब सम्भव नहीं अब ।

नारद प्रकट होकर राधा के सामने आते हैं । कृष्ण एक वृक्ष के पीछे छिप जाते हैं । नारद को देख राधा प्रणाम करती है । नारद पूछते हैं कि क्या जीवन का पीयूप गिराना हितकर है, तुम जिसके हेतु यह सब कर रही हो, उसने सुध तक न ली और तुमको छोडकर चला गया हो ।

राधा सरल स्वभाव से मुनिजी को धन्यवाद देकर कह देती है कि आपने अनधिकृत को उपदेश दिया । नारद उसकी अवस्था की ओर उसका ध्यान दिलाया चाहते हैं तो वह कहती है कि हे मुनि, मैं अत्यन्त विवश हूँ । मैं क्या हो गई हूँ, यह मुझे कुछ ज्ञात नही । और —

मैं बिछा सम्पूर्ण चेतन हृदय की पीडा छिपाये
श्वास के पथ पर उन्हे ही खोजती रहती निरन्तर।

इस पर स्त्रियोचित मान को नारद जागृत करते हैं और बताते हैं कि कृष्ण किस प्रकार नया घर, नया राज और नये माता-पिता पाकर शेष सभी को भूल गए, वह एक ओर तो राधा का मान जागृत किया चाहते हैं दूसरी ओर कृष्ण की बुराई कहकर उनकी ओर से विरक्ति उत्पन्न किया चाहते हैं। पर राधा-- वह कहती है कि उनकी निष्ठुरता की बाते जो आपने कही वह सच होगी, पर मेरे लिए तो यह कोई प्रश्न ही नही। मेरे लिए तो—

एक वे ही पूर्व में, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में
और दक्षिण मे, धरा, पाताल, नभ में एक वे ही।

× × ×

तथा—

मान औ अपमान तो हैं द्वैत के ही रूप नारद।

इस पर नारद उपदेश देते हैं कि नारी का जीवन इसलिए नही है। कन्यात्व या पत्नीत्व ही नारी रूप नही। विश्व में मातृत्व रूप ही उसकी सफलता है। राधा स्पष्टत कह देती है कि हे महामुनि, मैं नही जानती कि नारीत्व का ध्येय क्या है। मैं तो—

घोर रजनी में विगत के भग्न पर सर्वस्व हुति दे
प्राण का आसव चढ़ाये, स्निग्ध स्मृति का दीप बाले
खोजती हूँ, क्या पाऊँगी, मिलेंगे भी न क्या वे ?

× × ×

वही जीवन दीप नारद, हृदय, आशा, श्वास, भाषा,
पुलक, चिन्तन, कल्पना, स्वर, ध्यान, कविता, धर्म श्रद्धा
प्रणय वे ही, कृत्य वे ही, साधना के देव वे ही,
सभी कुछ उनमें समाया रोम-रोम प्रपच चेतन !

सात्विक प्रेम की चरम सीमा है। नारद के मर्म छू देने पर आवेश

आ गया। आवेग की अधिकता से वह कह उठती है—

वे यहाँ है, वे कहाँ में, हृदय में विश्वास बल में,
कुसुम-कलियो में लता में वृक्ष में सरिता लहर में
गगन में पाताल में, भूधर-धरा जीवन-भरण में ।।

ध्यानस्थ होकर राधा गिर जाती है। कृष्ण एकदम दुखाभिभूत हो जाते हैं। पर अहंकारी भक्त नारद का कृष्ण को केवल सर्वस्व समर्पण करने वाली राधा देखकर भक्ति का गर्व चूर-चूर हो जाता है। वह वासुदेव को निष्ठुर कहकर कहते है—

महामुनि, ज्ञानी, अमानी, भक्त, योगी, सभी देखे,
जगत देखा, बहुत देखा, पर ऐसा व्यक्ति देखा
यह अभी तक मानता था एक निश्छल भक्ति अपनी,
किन्तु जाना सूर्य राधा और मैं खद्योत नारद।
चला था, पथ से हटाने, परीक्षा लेने कुमति में,
किन्तु मैंने विश्व-वन्द्या आज राधा रूप देखा।

यह कह नारद खडताल और तम्बूरे पर गाते चले जाते हैं राधा सचेत होने पर नारद के गीत की अन्तिम कडियाँ सुनती हैं जो उसे प्रिय लगती हैं। वह दुहराती है। उसकी तन्यमता देख कृष्ण प्रकट हो राधा के पास आते हैं और उसका सिर अपनी गोद मे रखकर कहते हैं--

ठीक है वह मोह-ममता-माया हीन, निर्भय,
भूल सब कुछ गया केशव रम गया नव-विभव पाकर।

पर राधा को यह अनुभव भी न हुआ, न उसने कृष्ण के वाक्य सुने वह तो अपने हृदय को निकाल कर रख रही थी। सात्विक और सच्चे प्रेम मे प्रतिदान तो होता ही नही। सच्चे प्रेम मे अपना अस्तित्व न के समान और केवल प्रिय रह जाता है। वह कहती है—

चाहिए मुझको न कुछ भी प्रेम का प्रतिदान उनके।
वे महान विभूति, मैं लघु, वे सरित, मैं लहर उनकी।

× × ×

विश्वामित्र

पात्र

विश्वामित्र
मेनका
उर्वशी
शकुन्तला

(१)

समय-सायकाल

(हिमालय की तलहटी मे देवदारु के वृक्ष के नीचे हिमासन पर विश्वामित्र तप कर रहे है। नाभि के नीचे तक लटकती दाढी, बिखरी हुई जटाएँ, अग में एक-मात्र कौपीन, प्रदीप्त और उग्र मुख-मडल। समाधि अभी खुल रही है। देखते है चराचर विश्व स्थिर है, केवल फुहार की तरह बर्फ झड रही है। दृष्टि तीव्र होते ही बर्फ गिरनी बन्द हो जाती है। फिर मुस्कराते है, बर्फ गिरने लगती है। देखते-ही-देखते सम्पूर्ण शरीर हिम-पट से ढक जाता है। केवल दोनो नेत्र शरदाकाश में निकले दो चन्द्रमा की तरह चमक रहे हैं। धीरे-धीरे स्पष्ट ध्वनि में—)

मेरे तप का तीव्र तेज है बढ़ रहा
रवि-मण्डल को वेध ब्रह्म के शीर्ष तक,
फैला है आतंक जगत् परमाणु मे।
मिटा रहा हूँ सतत लिखावट भाग्य की।
जन्म-जन्म के सस्कार धुल से गये
इतिहासों पर फिरी स्याहियाँ आज है।
पूर्ण हुआ है मेरा यह तप कठिनतम !

बुझ सकते रवि मेरे भृकुटि निपात से
फट सकता ब्रह्माण्ड एक संकेत पा।
देववृन्द इन्द्रादिक की तो क्या कथा
ब्रह्मा पा संकेत सृष्टि रच दे अभी।
और स्वय मैं भी तो 'मै क्या हीन हूँ ?
चाहूँ तो संसार चरण पर आ गिरे
और नये ससार बने, नव काल हो,
नव रवि, नव शशि, खिले फूल, दल, तारिका,
नव मानव, नव प्राण चाहते ही सकल
रच दूँ अपर विराट् ब्रह्म को मैं स्वयम्
रच दूँ हरि, हर और विधाता इन्द्र भी
रच दूँ अभिनव स्वर्ग, नरक, पाताल, नभ;
रच दूँ मै गन्धर्व, यक्ष, किन्नर सभी,
रच दूँ लीला-हास किरण से तुरत ही,
अरे, असंख्यों सुन्दर देवी, मानवी।
कौन शक्ति, अथ कौन चाह दुर्लभ मुझे,
नहीं मुझे अब कुछ भी है अज्ञेय जग
ज्ञेय तथा अति गूढ़ गिरा अभिसार सा।

(कुछ सोचकर)

नहीं, अभी मैं फिर समाधि लूँगा गहन
जिससे हो यह विश्व वश्य मेरे सतत।

(समाधि में लीन हो जाते हैं, उर्वशी और मेनका नाम की दो अप्सराओं का प्रवेश)

उर्वशी—

अरी मेनके, इस सुन्दरता विश्व में
जीवन-नौका मृदुल हृदय की आस-सी
घन-तड़िता-सी शनै-शनै अथ क्षिप्रतर
बहती भृकुटि कटाक्ष दण्ड ले काम का।
गाता कोई नहीं आज क्यों शून्य में
भर देता क्यों नहीं जगत् को राग से
प्राणों में फिर एक बार अविराम मृदु
सौन्दर्य का एक अनुर्वर गीत है।
ताक रही हूँ इधर-उधर पाती नहीं
कोई भी आधार मुझे मिलता नहीं।
नभ का नीला हास, हरितिमा भूमि की
लेकर आशा जाल तानते जालियाँ
एक सूत्र में पिरो रहे उद्भ्रान्त हो।
मन्द-मन्द उल्लास नाचता है अधर,
छवि के कोने तोड़ तोड़कर कौन यह
बाँट रहा है महाविश्व मे आज यों ?
मेरी आशा-वीथि किन्तु फिर शून्य क्यों
और प्रस्फुटित अंग-अंग सौन्दर्य के ?

दूर-दूर यह कौन निभृत, विस्मृत अश च
भंग पद क्रम नूपुर का बजता चला
और जर्जरित मन-मन्दिर मे कौन यह
क्यों मुक्तरो ले प्यारा छीन पीता सतत।
देख रही निःश्वास छोड़कर विश्व को
किंतु नहीं पाती हूँ कुछ भी आज तो।
मेरे वंचित हृदय-कोण में दीप यह
निर्निमेप जलता ही रहता ध्यान-सा।
मै पल पल मे लीन हो रही, दे रही
और ले रही कुछ अभिनव प्राचीन भी।
सुन्दरता के कतर पंख यह कौन है
फेंक रहा जो अन्धकार के कूप में?

मेनका—

यह सब कुछ भी नहीं, जानती मैं यही
हृदय, प्रेम, आनन्द हमारी सृष्टि है।
क्षण क्षण निर्मित होता है अनुराग यह
और व्याघ्र-सा काल लीलता है जगत्।
हम अभिनव की एक मनोरम रागिनी
जिसमें स्वर-माधुर्य उठ रहा है सतत
मंजु मूर्छना और ताल आरोह से
होता है उन्मत्त हृदय जड़ विश्व का।

नव कलिका का मधुर रूप पीकर सदा
झूम रहा क्या नहीं पवन उद्भ्रान्त-सा ?
किसलय पर उन्मुक्त बिन्दु नीहार का
नाच रही क्या नहीं हिलोरें भर हृदय ?
ये वासन्ती सुरभि नचाकर वल्लरी
पंखुड़ियों के स्फीत हृदय को खोलती
भर देती आनन्द-उदधि से जगत् के
रोम-रोम में प्राणों का मद ढाल कर।
रवि को देख, सहर्ष शाम की रक्ततम
पुलकित फुल्ल कपोल-पालि को चूमकर
मद बेसुध-सा हुआ जा रहा है सखी,
अपने ही को भूल-भूल सुख साध में।

(विश्वामित्र की ओर देखकर)

यह क्या, यह क्या, उठा हुआ हिम-पुञ्ज-सा
जीवित, मृत या नराकार कैसा सखी ?

उर्वशी—

होगा कोई अरी, हमे क्या, आ चले
अपने ही से मिलता कब अवकाश है।
हम तो यौवन की हिलोर ले मोद-सी
सौन्दर्य के उदधि नाव है खे रहीं।

(दोनों पास जाकर)

मेनका—

ज्योति-पुञ्ज यह लीन तपोनिधि कौन है,
जीवित मृत्यु समान शून्य निस्पन्द गति,
पृथ्वी पर आच्छन्न भस्म से ज्योति-सा,
अवगुण्ठित-सा हिम रज का परिधान ले ?
मैं सुनती थी यहाँ घोर तप कर रहा
कोई लिये समाधि एक चिर काल से !

उर्वशी—

हाँ, हाँ, आया याद कर रहे इन्द्र थे
करते विश्वामित्र घोर तप विपिन में
लोक-विजय के लिए साध ले हृदय में
यह भी कोई काम भला, तू ही बता
जीवन का आमोद सौख्य सब छोड़कर।

मेनका—

आशाओं का अन्त नहीं है सखि यहाँ
सागर से भी बड़ी, भूधरों के शिखर—
से भी ऊँची, रवि से अतितर तीक्ष्ण हैं।
इस आशा में बहा जा रहा विश्व है।
भुज-बल, पशु-बल और आत्म-बल ले महान्
यह नर करना चाह रहा है विजय जग।
किन्तु जानता कौन भावना का उदय

कब आकर कर डाले मानव को पतित ।

उर्वशी --

मैं करती हूँ घृणा मनुज से इसलिए
जग का साधन हमें बना सुख ले रहा ।
क्यों न आज तक कभी 'इन्द्र' नारी हुआ
है उसमें किस भाव और बल की कमी ?
क्यों न विष्णु की जगह उमा उल्लेख्य हो
क्या सावित्री में न रहा बल है कभी ?
किन्तु नहीं, नर अपनी गुरुता के लिए
सब पर शासन करने की धुन में लगा ।

मेनका—

क्या सचमुच हम नर की समता कर सकें ?

उर्वशी—

यह जड़ विश्वामित्र अधिक बलवान बन
क्या न नचावेगा हमको यदि इन्द्र हो ?
तब हम इसका पाते ही संकेत-बल—
गावेंगी, नाचेंगी अपित कर स्वतन्त्र ।
जब नारी, नर दोनों ही से सृष्टि है,
एक बड़ा, छोटा हो क्योंकर दूसरा !

मेनका—

यद्यपि हममें नहीं भुजा का बुद्धि का

बल, तो भी तो एक हृदय-बल पास है।
जो मानव को दुर्लभ दुर्लभतर अथ च
वही प्रेम-बल आद्य शक्ति ने है दिया।
सौंदर्य औ' रूप हमारे अस्त्र हैं
जिसके वश त्रैलोक्य नाचता है सखी,
यदि चाहूँ तो अभी तपस्वी को उठा
नाच नचाऊँ जड़ पुतली कर काम की।

उर्वशी—

यह सम्भव है नहीं, असम्भव है सखी,
वश करना इस क्रूर मनुज को है कठिन।
यह कच्ची मिट्टी है चाहो तो बना
किन्तु अन्त इसका पत्थर से भी कड़ा।
यह लोहा है जो न पिघलता सहज ही
और सहज ही फिर होता है अति कठिन!

मेनका—

अरी, 'अह' ही इसकी कच्ची नींव है,
और स्वार्थ के सोपानों पर चढ़ रहा।
जिस पर है कंकाल मनुजता का खड़ा
गिर जाता है एक ठेस खाकर वहीं।
आज नचाऊँ क्षुद्र जीव को नाच मैं
और दिखा दूँ नर में क्या कमजोरियाँ।

उर्वशी—

क्यों श्रम यह फल हीन कर रही है सखी !
तेरे वश का नहीं समाधि त्याग तक !

मेनका—

मुझे नहीं इससे है कोई द्वेष सखि,
और असंख्यों तापस करते तप यहाँ
किन्तु मेनका केवल इस ऋषि को यहीं
वश कर दिखला देगी, नारी कौन है !

उर्वशी—

नारी प्राण विहीन चेतना से रहित
एक भावना-पुञ्ज, पराई आस है।
जो साधन है जग में मानव सौख्य की
सुखहीन है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास-स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की
मदिरा, जिसकी स्वयं नशा होता नहीं।
औरों के ही लिए हृदय है, बुद्धि है,
मन है, प्राण, शरीर, कर्म है, धर्म है।
है समग्र यह शिथिल विश्व का रूप यह
और विधाता के प्रमाद का फल यही।

मेनका—

नहीं, नहीं, यह कैसे कहती हो सखी,

वह सत्ता है कोमल जग के तत्त्व की
और कल्पना सहज विधाता हृदय की,
रुचिर सहचरी रूप सुधा का प्राण है।
मानव के नैराश्य-पुञ्ज में दीप की
ज्योति-शिखा है, नारी, नर की चाहना।
यदि इस जग में नर है बुद्धि-विवेक तो
नारी कोमल हृदय तन्तु की स्फुरणा।
यह मद का कादम्ब, प्रेरणा विश्व की।
कान्ति, ज्योति सौरभ की सुन्दर मूर्ति है।
आज उन्हीं कुछ शक्ति-कणों को ले हृदय
नारी भृकुटि विलास लास्य करने चला।

उर्वशी—

जीवन का सब प्रेम आज देकर मुझे
कण-कण का आह्लाद नाचने-सा चला।
यदि नर का हो सतत पराभव भृकुटि से
रोम-रोम की जलन सुधा-सरिता बने।

मेनका—

मैं न घृणा करती हूँ नर से हे सखी,
वह तो मेरे रूप हृदय की प्यास है।
जिससे जीवन-तत्त्व बह रहा है सुखद
और हृदय की सीमाओं को छू रहा।

मुझे प्रेरणा करता है कोई यही

उर्वशी—

श्वास साधकर देखेगी नारी यही
प्रतिबिम्बित होता है कैसे नर-हृदय
प्रतिचित्रित होती है कैसे भावना
प्रतिलक्षित होती है नर में नारियाँ ?

(उर्वशी का प्रस्थान)

मेनका—

ओ, नारी के उज्ज्वल प्रेम-विभोर अग
ओ, मंजुल पंखुड़ियों के मृदु हास मधु,
ओ, पृथ्वी की श्यामलता औन्नत्य हे,
भूधर की अति दृप्ति, चंद्र के हास ओ,
रजनी के उन्माद, तारिका के नवल
मन्द-मन्द आलोक बुलाती हूँ तुम्हे,
ओ सुमनों के मकरन्दों से स्नात हे,
वासन्ती के अमर अचल, अंचल, अखिल
आओ, मेरे मूर्त श्वास में बस चलो।
आओ, शरदाकाश धवलिमा धौत जग,
आओ, यौवन-गर्व दर्प कंदर्प हे,
उठो, उठो भर दो वसुधा में सूक्ष्म-सी
और स्थूल-सी, मृदु-सी, लघु-सी, महत्-सी,

यौवन के सौंदर्य-उदधि की मधुरिमा।
आओ, मेरा भ्रू-विलास मुसका रहा
नारी का मृदु गर्व सरित की लहर-सा।

(वसन्त का प्रवेश)

तुम आये हो मादक मेरा विश्व ही
उठ आया हो मानो मीठी साध-सा।

वसन्त—

मैं नारी की एक कामना मूर्त हूँ।
मैं उसकी उल्लास-वल्लरी का कुसुम,
मैं उसके प्राणों का अक्षय औ' अचल
तृप्तिहीन आवाहन मुखरित मंत्र हूँ।
तुम हो प्राण, विलास तुम्हारा मैं प्रिये,
तुम हो भृकुटि, कटाक्ष पात मैं मधुरतर।

(२)

(मेनिका देखती है—यह सम्पूर्ण भू-भाग एकदम बदल गया है, आकाश में पूर्ण चन्द्रमा निकल आया है, सम्पूर्ण भूमि हरी-भरी हो गई है। वृक्ष, पौधे, लताएँ लहलहा उठी है, फूल हँसने लगे हैं, सुरभि से सारा वन-प्रदेश महक उठा है, दिन और रात का भेद भूलकर भौंरे झुण्ड-के-झुण्ड पुष्पो पर टूटे पडते हैं। पृथ्वी अपने वैभव को चूमने के लिए हरी घास के द्वारा रोमाञ्चित हो रही है, चन्द्रमा किरणों द्वारा नीचे की ओर झुका पडता है।)

मेनका—

निश्चय, निश्चय यह अनग का सैन्य-बल
औ' अनग वह मेरा भृकुटि कटाक्ष है,
वह है भू पर मूक नियति के हास-सा
अस्थिर चंचल एक हृदय की ऊर्मि ही।
जिसके साधन-बल से मैं गर्वित हुई
प्राणों का उपहार चढाती जगत् को।
यौवन, विधु की किरणों के उल्लास बन
फूल उठो, वसुधा मे भर दो, प्रणय का
अभिनव सागर, मानस में नर के उठो!
भूल जाय जग धर्म-कर्म का मर्म सब
भूल जाय उद्दाम तेज, तप तीव्र भी,
भूल जायँ आचार, नीतियाँ, रूढ़ियाँ,
औ' समाधियों में नर के हो एक अति
प्रणयी का अनुराग, राग-सा बह चले।
सागर उफने चन्द्र-किरण को देखकर
तरु-वल्लरियों के वितान से लग्न हों
नर-नारी के प्राण एक हो गा उठें
अन्तर का मृदु मंजु-मंजु मंजीर रव
एक स्वर होकर वसुधा पर बह उठे
प्राण-प्राण में मानव के मद की सरित।

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली !

तार गर्जन मन्द्र गर्जन
दामिनी के हाथ निज धन
कर रहे अर्पित जलद तन
नाच देता पवन ताली

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली !

चन्द्र की किरणें उतरकर
चूमती है लहर का स्वर
उड़ रहा है ज्वार सागर
घूँट में पीने उजाली

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली !

एक ध्वनि हो, एक लय हो
प्राण यह, प्रिय प्राणमय हो
राग में हँसता प्रणय हो
थाह फिर किराने न पा ली

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली !

सृष्टि सारी उर्वरा हो
हृदय का भू-तल हरा हो
प्रणय-मद-सागर भरा हो
भर पिलाऊँ प्यार-प्याली

मैं प्रणय की हूँ पहेली, राग का आरोह आली !

(३)

(मेनका देखती है, उस भू-भाग पर एक तीव्र मादकता छा गई है। इधर पंख फड़फड़ाकर चौकन्ने-से हो उठने वाले हंस की तरह विश्वामित्र के शरीर से हिम-कण हिल-हिलकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं। ऋषि एकदम आँख खोल देते हैं। आँखों से पहले विस्मय, फिर क्रोध, फिर वितर्क, फिर आह्लाद और प्रेम का नशा-सा झलकने लगता है। सब ओर देखकर सिहर-से उठते हैं।)

स्पष्ट ध्वनि में—

मेरी मूक समाधि और तप में सजग
होकर भरती कौन राग की उफनती
नव स्वर्गिक संगीत-सुधा अति वेग से ?

(चारों ओर देखकर)

हैं, यह कैसा हुआ मंजु कान्तार है ?
कैसी है उद्दाम पुरानी सुखद सी
स्मृतियों की अति वेगमयी चल चित्रिका।
कैसा होता आज, धुल रहा है निखिल
मेरे तप का नभचुम्बी भूधर इधर
और बहाता जाता सब करके सलिल
एक वेग से किसी मनोरम धार में।

(मेनका की ओर देखते है।)

अरे, अरे, तुम कौन, मंजु, मृदु, कल्पना
विधि की, हरि की, सुरपति की, या प्रकृति की,
रति की, रतिपति की, महान् की, सूक्ष्म की,
कौन, कौन, तुम कौन, यहाँ क्या कर रही
मेरे अन्तर रोम-रोम में लीन हो ?

मेनका—

(अनसुनी करके)

किरण चन्द्र में लहर सरित मे खेलती,
कलिका में मृदुहास, पवन में मन्द गति,
हूँ फुहार में मेघ, वृष्टि में दामिनी
चमक। चपल यौवन में हूँ मैं उग्र मद।
रति अनंग में; सुन्दरता में रूप हूँ।
रागों में ध्रुव, सुखद भैरवी रागिनी।
लय में हूँ आरोह, प्राण में श्वास हूँ।

(गाती हुई)

आज इस पावन विजन में
प्राण मे उत्क्रान्ति सी भर कौन गाता मूक मन में ?
आज इस पावन विजन में
सुरभि भीनी माधवी की लिख रही है गीत मन में
पढ़ रही हैं तारिकाएँ हृदय की गाथा सुमन में
आज इस पावन विजन मे

मूक मारुत दे रहा सन्देश कलियों का भ्रमर को
चूमती है चन्द्र-लहरें उतर धीरे स अधर को
झिर रहा झर-झर निशा-उल्लास यौवन अलस तन मे

आज इस पावन विजन मे

विश्वामित्र—

मैं अत्युन्नत भव विवेक आलोक रवि
पोर-पोर में जिसके विश्व विबुद्ध है।
गोलक-सा ब्रह्माण्ड भृकुटि के पात से
निर्मित होता है क्षण-क्षण में श्वास से।
कौन कहाँ से आया जलता दीप लघु
मुझ रवि के सम्मुख सत्ता क्या दीप की?
कौन-कौन री तू नारी, क्या कर रही ?

मेनका—

अरे, अरे, तुम मुझसे ही कुछ कह रहे,
जटा विलासी, मैं न जानती समझती
एक ढेर से मिट्टी के तुम कौन हो ?

विश्वामित्र—(क्रोध से)

क्या तू मुझको नहीं जानती वक्रमति,
मैं हूँ विश्वामित्र, प्रतापी, महामुनि,
मैं चाहूँ तो क्षण में ही नव सृष्टि कर
तुझ-जैसी उत्पन्न करूँ शत नारियाँ।

क्या है तुझको कार्य यहाँ क्या कर रही ?

मेनका—

होगे विश्वामित्र, मुझे क्या, सो रहो
चक्षु-गालकों में समाधि का सिंधु भर
और 'अहं' का आस्वादन करते रहो
स्वान-क्षत सम चाट-चाटकर रुधिर निज।
मैं तो मंजुल स्नेह सुरभि सम विहरती
रहती हूँ उद्दीप्त विभा-सी, लहर-सी।

विश्वामित्र—

हे निर्लज्जे, साहसिके, मन्दानिले,
मेरे सम्मुख मेरा ही अपमान तू
करने आई है मशकी-सी तुच्छ मति ?
महत्तपस्वी मैं हूँ युग निर्माण कर,
रच दूँ सारा विश्व अभी क्षण में नया।
ठहर ठहर, रे आँखों से क्यों खेलती
खेल अनूठे, वाणी के रस के मधुर,
जाने जाने क्या सोता-सा जागता
तुझे देखकर मन में लहरें उठ रहीं।

मेनका—(तीक्ष्ण कटाक्ष करके)

मैं क्यों तुझको देखूँगी सोचो भला।
क्या मुझको है काम नहीं कुछ भी कहीं ?

मैं तो तितली हूँ उड़ती प्रति पुष्प पर
और छमकती, छनन-छनन-छन नित्य ही

(इसके साथ ही नाचती है ।)

मैं तो विद्युत् मेघ पुरुष की प्रेयसी
नाच रही हूँ बन्धन-मुक्त प्रमत्त-सी
ताक रहे हो मुझे फाड़कर आँख क्यों
ताक रहे हो मेरे अंग अनंग क्यों ?
यह क्या, यह क्या, अरे छू गई बिजलियाँ,
रंग बदलते गिरगिट-सा क्यों जा रहे ?
क्या मेरी आँखों में झरता गरल है
या कि सुधा जिससे मरकर तुम जी रहे ?
मेरे घट-पीयूष छलकते क्या तुम्हें
करते हैं आकृष्ट, हो रहे मुग्ध क्यों ?

विश्वामित्र -

नहीं, नहीं, मैं स्वयं ब्रह्म ज्ञानी स्वय
होता मुझको कभी न कोई वेग है ।
(मेनका नाचती-नाचती दूर चली जाती है ।
चलूँ-चलूँ मैं फिर समाधि लूँ मग्न हो
और विभव को मुट्ठी में कर लूँ सतत
जीवन के कटु रूप, प्रणय, सौन्दर्य को
दास बना लूँगा आजीवन के लिए

मैं प्रवाह हूँ महा प्रलय का प्रखरतर
जिसे रोकना नहीं किसी को शक्य है।
किन्तु देख पड़ता है कैसा विश्व यह
कैसा उज्ज्वल भाग जगत् का यह अहो!
समझा, कैसा यह प्रकाश सुन्दर, सुखद
प्राणों को अभिषिक्त कर रहा जो सतत
अरे, भूलता रहा, प्रेम ही प्राण है।
प्रेम हृदय का उर्वर सृष्टि-विलास है।
भूल गया हूँ मैं भी था तापस कभी
तापस, नीरस जीवन की लघु प्रेरणा
जिसमें ईश्वर नहीं 'अहं' का वास है
स्वयं 'ब्रह्म' होने की मीठी कामना।
तुम भी तो हाँ, स्वयं ब्रह्म आनन्द हो
जाग्रत अथ प्रत्यक्ष कल्प-तरु विश्व की।
आज बदल है गया सभी जो लक्ष्य था
प्रेमानंद प्रवाह पुलक में मग्न हूँ।
सुनो, तुम्हीं हो रोम-रोम की कामना
रोमांचित प्राणों की संचित साध-सी
मेरे तप से, जप, समाधि से ध्यान से
सुन्दर यह मुस्कान तुम्हारी दीखती
कई सृष्टियाँ कई योग, तप वार दूँ।

यह समस्त संसार तुम्हारी चरण-रज।

(मेनका की ओर बढ़कर और फिर ठहरकर)

हा, कितना अपलाप तपस्वी-वृन्द का
विष्णु रमा के साथ, विधाता खेलते-
सावित्री के साथ, सदा हर-पार्वती
रहते हैं संलिप्त भोग-वैभव-निरत,
जलचर, थलचर, खेचर भी अतितृप्त हैं
अपने ही जीवन में खोये-से सदा।
नर-नारी ही प्रकृति-ब्रह्म है वस्तुत।
किन्तु न जाने क्यों तापस संसार यह
भूल रहा प्रत्यक्ष सुखों को त्याग कर।
तप की केंचुल त्याग हृदय है उफनता
प्रिये, तुम्हारे विश्व मूर्त को चूमने।

(मेनका प्रकट हो जाती है, ऋषि आलिंगन को बढ़ते हैं।)

मेनका—

हे मुनि, यह क्या, अरे, तुम्हें क्या हो गया
तुम प्रबुद्ध, ब्रह्मज्ञ, महामुनि, भूलते ?

विश्वामित्र—

क्या सचमुच ही, नहीं-नहीं यह भूल है
सब प्रपंच 'अध्यात्म', एक तुम सत्य हो।
यह सौन्दर्य समग्र सृष्टि का मूल है।

तप का फल भी स्वर्ग-प्राप्ति ही है सुखद ।
स्वर्ग, स्वर्ग क्या सौन्दर्य से, प्रेम से,
हृदय-साध का लय हो जाना प्राण में ।

मेनका—

किन्तु नहीं है स्थायी मुनिवर कुछ यहाँ
यह दो दिन का स्वर्ग—

विश्वामित्र—

(कुछ सोचकर) स्वर्ग क्या झूठ है ?
क्या न सुखों का अपने में अस्तित्व है ?
'कुछ भी स्थायी नहीं' कह रहा भ्रांत जग
नश्वर इस जग में है स्थायी कुछ नहीं ।
तप का क्या अस्तित्व स्वर्ग का भी नहीं
जिसके हेतु समग्र पुण्य करता जगत् ।
आज समझ पाया हूँ मैं तो सार क्या
मुझ तृषार्त्त का भर दो निज मद से हृदय
पीऊँ शत शत जीवन यह सौंदर्य-मधु ।

मेनका—

मैं सुमनों की हृदय-कहानी सुन रही,
मैं कलिका के ओठों पर मधु छिड़कती
प्रात वात के उष्ण श्वास पीकर मदिर
अपने ही में भूल रही बेसुध बनी ।

मुझे न नर से कोई भी कुछ काम है।
जाओ, हम तुम दोनों ही अति दूर हैं
जाओ, जाओ, मै कुछ सुन पाती नहीं।

(गाती हुई)

ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा री।
मन्द मारुत मलय मद ले निशा का मुख चूमता है
साध पहलू मे छिपाये चन्द्र मद मे झूमता है
कुसुम-चषकों मे किरण रस भर धरा मद पी रही है
उड़ रहा जग श्वास के रथ, आस आँसू सी रही है
कमल के मकरन्द मे पीता भ्रमर मधु कल्पना री,
ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा री।
हृदय-जग के क्षितिज लाली मे नहाकर उड गए नभ
औ' जला चिर साध अपनी तारिकाएँ बन गए सब
छू रहीं वे दूर से ही आज मेरी धडकनों को
किसलयों के चपल नर्तन पर थिरकते अलिगणों को
विश्व के उल्लास में क्या है न मेरी ही खुमारी,
ताल भूली रागिनी हूँ साज मेरा शिथिल-सा री।

(एकदम अन्तर्धान हो जाती है।)

(४)

कामातुर, विरहाग्नि से दग्ध ऋषि उन्मत्त की तरह खड़े है।)

विश्वामित्र—(बेचैन होकर)

अरे,प्राण की निखिल ज्योति कम्पित हुई
रोम-रोम में विस्मृति की लहरें उठीं
स्मृतियों पर चित्रित करतीं-सी राग को
घोर नशे-सी झूम रही हो नेत्र में
अरे, अग्नि-सी सुलगाकर इस देह में
कहाँ गई ओ काम भृकुटि-चल-भगिमे!
प्राण, हृदय, बल सभी खींचकर देह का
मूर्च्छित को मृत,मृत को करने भस्म-सा।
तीव्र महामद विश्व पात्र से झर रहा।
चली गई विस्मृति, अतीत-सी,त्याग-सी,
पल-सी, घटिका,दिवस,रात-सी,वर्ष-सी,
युग-सी,जीवन-सी,बेला-सी, प्रगति-सी,
हृत्कम्पन-सी,श्वास-श्वास-सी,आस-सी,
मूक रुदन के लिए अकेला छोड़कर।
ढूँढूँ-ढूँढूँ, अरे प्राण को, हृदय को,
धड़कन को, जीवन को, संचित साध को,
नभ में, नभ के छोर पिण्ड ब्रह्माण्ड में!
भूला, सुमनों के स्मय चर का रूप धर
शुभ्र चन्द्रिका से मिलकर अति वेग से
हिम-कण के उल्लसित गर्व पर उड़ रहे

तुम्हे खोजने विरह-वह्नि की ज्योति ले।
आओ, मेरे हृदय-कुण्ड मे हे प्रिये,
विरह-वह्नि के नभचुम्बी स्फुलिंग मे
निज-करुणा की आहुति डालो, डाल दो
सुख मेघों से त्वरित पाट दो प्राण मम।
(घूमकर) देख रहे है, देख रहे है प्राण शत
शत नेत्रों से मंजु मनोरम मूर्ति तव,
तरु में, किसलय में, सुपुष्प मकरन्द में,
अलि गुञ्जन मे, पवन प्रसर मे, ओस मे,
धवल चन्द्र में, तारक दल के हास में,
मानव की उल्लास-राशि मे, प्रणय में,
स्वर में, लय में, राग-राग आरोह में,
अवरोहों मे और मूर्च्छना में निखिल
तुम्हे, तुम्हे ही, एक तुम्हे अभिसारिके,

(पागल-से होकर)

तुम यह, तुम वह, यहाँ, इधर ही तो खड़ी,
उधर चलूँ क्या, नहीं शिखर पर हँस रही,
और गा रही गीत सुनाई पड़ रहा
नहीं, नहीं, तुम यहाँ नहीं, तुम हो कहाँ?
बोलो, बोलो, हृदय कम्प, बोलो तनिक,
ओ प्रकाश इस नेत्र-तारिका की मधुर,

(आँख बन्द करके बैठ जाते हैं ।)

बाहर हो तुम नहीं हृदय में छिप रही
आँखों मे ही झूम रही हो क्यों प्रिये ?
किन्तु आँख मे छिपी हुई को पकड़ लूँ
दिये नहीं कर हाय, 'विधाता ने मुझे ?
थिरको, नाचो, श्वासों के कंकाल पर
तुम्हें पा गया, आहा यह तापस प्रिये ?
तापस छिः मैं नहीं, रसिक हूँ, रसिकवर !
अरे, किन्तु यह क्या, यह क्या, मैं कह रहा ?
छल-सी आकर गईं, छद्म-सी छिप गईं ?

(आखें खोलकर)

हैं, यह कैसा हुआ, हृदय यह क्या हुआ ?
अरे,क्या हुआ अणु-अणु क्यों बेचैन है?
हृदय काँपता, धड़कन उड़ती जा रही
श्वासों के रॉग नभ में पंख समेटकर
अन्धकार है लहर लहर-सा झूमता
लहराता है तिमिर चन्द्र की कान्ति में
पल-पल पीता जाता है आलोक की
शिखा, शिखा के छोर तिमिर को छू रहे
अभिनव सब उद्भ्रान्त हुआ प्रलयान्त भी ।
जीवन, जीवन मृत-सा मेरा हो गया ।

एक स्पर्श पा पवन उड़ रही वेग से
वेगों मे उद्वेग भरा सा जा रहा—
उद्वेगों में शून्य, शून्य में हृदय है
और हृदय मे आस शून्य ने ली निगल।
अब क्या पाऊँ, पाने को क्या रह गया ?
ओ नभ, प्रलयी आग डाल दे विश्व पर
छार-छार हो मेरी सुषमा का जगत्।
फूल शूल है हुए, बसन्ती यह पवन
अग्नि दाह-सी फूट पड़ी है विश्व में।
मानव, तेरा अन्त यही क्या सच, यही,
भूल गया हूँ मैं अपनापन आज तो ?
एक आग-सी धधक उठी है विश्व मे
आशाएँ जल उठीं, जले है रोम भी
कुछ भी कोई नहीं, विरह है, आग है।

(इधर-उधर घूमकर)

इन गुलाब की पखुड़ियों पर हँस रहा
प्रिये तुम्हारा स्मय, विस्मय को चूमकर।
चम्पा की मकरन्द सुधा में उड़ रही
मुग्ध हृदय की मृदुता, कोमलता, सरल
अल्हड़पन, मस्ती, मादकता, बेसुधी
कण-कण में फूटा-सा यौवन झूमता।

गेंदा क्षण-क्षण पीला होता जा रहा,
शतदल उसकी शत-ही-शत आँखें हुईं
तुम्हें खोजने हेतु। द्रुपद भी हा, पिघल
रोते से वह चले आग मन में लिये
एक तुम्हारी गीति तान से होड़कर।
आज हमारे रोम-रोम वाणी हुए
और पुकारते ढूँढ़ रहे हैं विश्व में।
रोम रोम में जाग उठी है प्यास-सी।
भूधर, सागर, हिम, तारे, शशि, सूर्य से,
रंग बिरंगी प्रकृति, मरुत, मकरन्द से,
मद से मानव के समुद्र से, मोद से,
हृदय, प्रेम से बड़ी तुम्हारी प्यारा है।
मेरे अन्तर श्वास सजग बन, मूर्त बन
ढूँढ़ रहे हैं तुम्हें धरा के गर्भ मे,
रवि-प्रकाश में, शशि-विलास, नक्षत्र मे,
विश्व पिण्ड में, तल में, नभ में, महत् में
तम में, यम की दाढ़ों मे उद्भ्रान्त-से।
नहीं मिलोगी—

(बेचैनी से घूमते हुए)

फिर जीवन मे साध क्या,
जीवन ही क्या, मरण मरण ही तो भला,

ओ अन्तर फट, हृदय बिखरकर टूक हो।
प्रेम जलो, आशाओ दहको आग-सी,
स्नेह सूत्र टूटो, फूटो औ' आँख भी।
ओ वियोग, तेरा, ही जीना हो सफल।
हाय अँधेरा हुआ तिमिर-ही-तिमिर है
कहीं नहीं आलोक शिखा दिखती अरे!
अब तो मृत्यु समस्त श्वास की साध है।

(एकदम एक शिला-खण्ड से गिरने लगते हैं, इसी बीच में मेनका हाथ पकड़कर रोक लेती है।)

मेनका—

ओ सुन्दर, तुमसे ही जीवन सफल!

विश्वामित्र—

हटो, कष्ट का पुञ्ज आज जीवन हुआ।

मेनका—

मैं ही हूँ वह जिसे खोजता प्राण था।

विश्वामित्र—

(पीछे मुड़कर और ध्यान से देखकर)

मरणासन्न उसाँस तुम्हीं हो क्या प्रिये,
या प्राणों की चाह मूर्त बन आ गई?
या आँखों मे बसी हुई हा मूर्ति वह
ज्योतिहीन आँखों से बाहर हो खड़ी?

मेरी सचित साध हृदय की तुम यहाँ ?
स्वर्ग-सुधा तुम, क्यों इतना कटु फल हुआ ?

मेनका—

प्रिय, 'वियोग' से सभी 'अहं' मल धुल गया
औ' अभाव जब दुःख सुधा का। क्यों न हो।
फिर मानव के हृदय भाव की कामना।
हृदय, प्रेम-कादम्ब पियो आकण्ठ तक।
नारी सुधा, पिपासाकुल नर की सुखद
शुभ्र प्रेम की मदिर हृदय की चेतना।
ओ मानव, तुम कितने सुन्दर मधुर हो।
कितने ऊँचे हृदयवान, जाना न था
कितने मीठे ओ मादक, भूली रही।

विश्वामित्र—

जीवन की 'इति' में 'अथ'-सी तुम आ मिलीं
ओ रमणी, सारार तुम्हीं हो जगत् का,
मैं अज्ञानी मूढ़, भूला सा था गया।

मेनका—

नारी स्नेहाधार सत्य ही है मनुज।

विश्वामित्र—

यदि नारी मद है कठोर यह नर 'चषक'।

मेनका—

(हँसकर)

अरे, नहीं मानव मद की है प्यास ही
यह नारी के सुखद स्वप्न के जगत् में
हँस जाता आँखों में आकर जब कभी
और भुलाता सुन्दरता का गर्व है।
यौवन की उत्कट इच्छा मे झाँककर।
क्रोध, मान, अपमान, भर्त्सना, ताडना,
कहाँ, न जाने कहाँ भाग जाते सभी
और हृदय पानी-सा होकर सतत ही
बहने लगता है प्रवाह मे, प्रेम मे
ओ प्रिय, ओ प्रिय

(एकदम ऋषि का आलिगन करके आँखें बन्द कर लेती है।)

विश्वामित्र—

मधु सर फुल्ल सरोजिनी।
नारी नर का प्राण, हृदय है अमित छवि
जीवन की गति, ओज, मधुरता मद मुखर—
वाणी, श्वास विलास, जगत् है साध है।

(आलिगन के आनन्द मे दोनो ही विभोर हो जाते है।)

(५)

बारह वर्ष बाद

(मेनका की गोद मे एक बालिका है, जो कभी-कभी आँखें खोल

मैंने जाना नहीं जगत इतना मधुर
अपना कम्पित हृदय दूसरा देखकर।
है पावन यह प्रतिभा ईश-विलास की
उतरा आकर विश्व-स्वर्ग इस देह में।
मृदुल सरलता, शोभा, सुख, शैशव सभी
चूम रहे हैं झूम-झूम झुक श्वास को।
और भूलते-से जाते निज रूप को,
कर्म क्रिया को विश्वजयी स्मय देखकर।
जीवित जाग्रत एक खिलौना विश्व का
तू मेरा अभिमान, रूप, छवि-मल्लिका,
रति की सुन्दर धड़कन मानो मूर्त बन
किसी स्वर्ग से उतर आ गई भूमि पर।
इसके सम्मुख स्वर्ग, सुधा, सुख, हेय है
हेय, मान, सम्मान, ज्ञान, अपवर्ग भी।

(आवेश में आकर बालिका का मुख चूमने लगती है।

देखो, ऋषि देखो, हम दो का स्वर्ग यह
भोला छल-बल-हीन मधुर पीयूष-सा।
विश्व वार दूँ स्वर्ग वार दूँ सैकड़ों
होता है जी अनुपम छवि को देखकर
श्वासों का कौषेय उड़ाकर ले उड़ूँ

नभ में शशि का गर्व तोड़ने—

(विश्वामित्र का प्रवेश)

विश्वामित्र—

दैव हा !

गरल अमृत के धोखे मे मैं पी गया।

(उर्वशी का प्रवेश)

उर्वशी—

गरल अमृत के धोखे मे तू पी रही।

विश्वामित्र—

मणि के भ्रम मे काँच खण्ड लेकर चला।

मेनका—

प्रिय, यह, ओ सखी, अरी क्या कह रही ?

विश्वामित्र—

हाय, सत्य से अनृत बदलकर हँस रहा
क्या इतना अपलाप तपस्वी का हुआ ?

उर्वशी—

यह सब-कुछ भी नहीं जानती, मैं यही
हृदय, प्रेम, आनन्द हमारी सृष्टि है।
क्षण-क्षण निर्मित होता है अनुराग यह
और व्याघ्र-सा काल लीलता है जगत्।
भूल गई क्या अपने ही उद्देश्य को

भूल गई क्या जीवन की मृदु रागिनी ?

मेनका—

अरी उर्वशी तू यह सब क्या कह रही,
भूल गई हूँ मैं तो अपना पूर्व प्रण,
अपना ही उल्लास छलकता देखकर
प्राण-प्राण मे उदित हुआ नव विश्व है।
मुझे चाहिए नहीं इन्द्र का राज्य भी
फुल्ल-कुसुम-सी सुरभि-मत्त यह बालिका
नव-जीवन-आलोक-दीप्त लघु-तारिका
उससे बढ़कर कौन स्नेह का कोष है ?
अंग-अंग से पूत प्राण की झलक ले
हम दोनों की सृष्टि रची है ईश ने।
मेरे सुख का स्रोत आज बन पुष्प फल
आ उतरा है धरा धाम पर स्वर्ग-सा
नहीं, नहीं तू जा मैं तो हूँ मग्न-सुख,
मग्न-हृदय-अभिराम, अल्पना-नर्तकी।

उर्वशी—

भूल गई है अरी मेनके, आज तू
क्या करना था तुझे कर रही और क्या!
'मुझे नहीं इससे है कोई द्वेष सखि,
और असंख्यों तापस करते तप यहाँ

किंतु मेनका केवल इस ऋषि को यहाँ
वश कर दिखला देगी नारी कौन है ?
भूल गई ये वाक्य और प्रण जो किये ?

(उर्वशी चली जाती है।)

मेनका— (६)

(सचेत होकर देखती है कि उसके हृदय के कोने में कहीं भी नवीन रूप नही रह गया है। आहत-सी होकर)

हैं यह कैसा ? समझी कितनी भ्रांति थी ?
'हम अभिनव की एक मनोरम रागिनी
जिसमें स्वर-माधुर्य उठ रहा है सतत
मंजु मूर्छना और ताल आरोह से
होता है उन्मत्त हृदय जड़ विश्व का।'

(कठोरता से)

लो यह अपना पाप पुण्य जो भी कहो
मैं जाती हूँ तुम्हें तुम्हारा सौंपकर।

(कन्या को विश्वामित्र की ओर बढाती है, ऋषि लेने में सकुचाते है, वह बालिका को एक शिला पर लिटा देती है।)

ओ मानव, तेरी आशा का अन्त क्या,
तू विलास पर निज पौरुष के महल को
बना-बनाकर नारी को छलता रहा
तू उमंग ले विश्व-विजय की चल रहा।

किन्तु पैर की उँगली कितनी लघु अरे,
छोटे से पैरों से, डग से नापना
चाह रहा है सभी विश्व को गर्व से।

विश्वामित्र—

जीवन मेरा भूला अपने ध्येय को
चढ़ते-चढ़ते भूधर के नीचे गिरा
और स्वर्ग के द्वार खोलकर झाँककर
लौट पड़ा आ गिरा दुख में, नरक में,
समझा, मेरी निर्बलता ने तुरत ही
मुझे दबोचा आकर पीड़ित कर दिया
और महल आशा का मेरा भग्न कर
मुझे बनाया पथ का भिक्षुक। दैव हा!
अरी, क्या कहा 'तू अभिनव की रागिनी
जिसमें स्वर-माधुर्य उठ रहा है सतत'
तू जीवन का विषम पन्थ रौरव प्रबल।
अमृत छलकते हलाहल का विषम घट
दानव से, छल, कपट, ईर्ष्या मद लिये
देवों से आकण्ठ विलासी वासना
नारी में ही दीख रही अंगार-सी
मादक-सी, पापों-सी, ऊँची तान भर।
यह वसन्त, यह पुण्य, अनल है, दाह है,

यह राका पापों की लहरों से जड़ी।
उसी समय मानव के सुख पर गिर गया
दुख का वज्र जभी नारी की चेतना-
पर रीझा नर काम-अग्नि में प्राण दे।

मेनका—

तभी स्वर्ग का राज्य छीनकर हे प्रबल,
तुम ऊपर-ऊपर को उठते जा रहे।
विश्व खिलौना आशा का उल्लास का
बनता ही क्या नहीं तुम्हारा जा रहा?
जीवन-पथ में पड़ा हुआ सुख ढूँढ़कर
निज प्रयास से द्विगुणित करते भ्रांति से।
सदा संगिनी नारी को दासी बना
निज सुख सीमा बढ़ा-बढ़ाकर हँस रहे।
आज तुम्हारा मानव क्यों कम्पित हुआ
नारी-स्मय की छाया में पलकर तनिक;
कौन अमृत के धोखे तुम विष पी गए?
क्या न स्वर्ग की साध तुम्हारा तप रहा?
क्या पौरुष को और सबल करना नहीं
रहा तुम्हारा ध्येय सृष्टि का आदि से?
क्या न इन्द्र बनने की तुममें चाह थी?
क्या न तुम्हें विधि, हरि, हर से भी उच्चतम

होने की आकांक्षा तप से पूर्व थी ?
क्या न हृदय में भृकुटि-संकेत पा
नये विश्व रच देने की थी कामना ?
कौन काम निष्काम कर रहे थे कहो।
और आत्म-सुख का उसमें था लेश भी
नहीं। अरे ओ मानव तेरा पूर्ण भ्रम
यही विश्व-कल्याण-कारिणी चाह थी ?

विश्वामित्र—

माना नर ऊपर उठने की चाह में
सभी स्वर्ग का महाराज्य पाने चला।
किन्तु न क्या यह जीवन की है सफलता
और न क्या मानव को हैं अधिकार यह?
कहो भला नर के उठने से क्यों हुआ
नारी का अपमान। विश्व संघर्ष है।
साहस हो जिसमें, बल हो औ' शक्ति हो
होगा वह ही, विजय-कीर्ति नेता, सदा।
कौन मार्ग में आकर नारी के खड़ा,
विश्व वश्य होता है बल पर, शक्ति पर।

मेनका—

क्या न अभी तक देख सके संघर्ष का
साहस का औ' शक्ति साधना का कुफल।

देवों का असुरों से क्यों संग्राम यह
होता रहता सदा जगत् में, शांति का
क्यों न रूप ही देख सकीं,हम आज तक ?
यह अकाम्य की सदा कामना दु:ख है।
इस उमंग में आकर तुमने स्वयं ही
नर-नारी की श्रेष्ठ सृष्टि का नाश कर
पूर्ण सौख्य की अवहेलना करके निठुर,
जीवन को कर डाला रौरव नरक है।
एक कृत्य मे नहीं अनेकों कृत्य में
सब समाज में पूर्ण जगत् में नित्य ही
निज सत्ता की, निज प्रभुत्व, निज दर्प की
दीप-शिखा लेकर चलते हो आज भी।
क्यों न व्यक्तिगत स्वार्थ भावना त्यागकर
जन-जन की कल्याण-कामना चाहते,
क्यों न सभी को जीने का अधिकार हो
अपने रूप-विकास, पूर्णता का परम।
एक हाथ से करता नव-निर्माण तू
और अपर से नाश उसी का कर रहा ?

(मेनका का प्रस्थान)

(७)

विश्वामित्र—

गई हृदय में आग लगाकर उड़ गई,

गई व्यर्थ सा कर नर के उल्लास को।
गई ज्ञान की दीप-शिखा उद्दीप्त कर
चली गई तू मानव की आराधना ?
ठहरो, मेरा चित्त ग्लानि से पूर्ण है,
तुझ विभीषा मेरे मन में उठ रही।
हाय, समझना मैं जिसको कल्याणकर
वह सब निकली छूँछी ज्ञान-विभावना।
सचमुच मैंने स्वार्थ हृदय के भाव को
जीवन का समझा था उन्नत मार्ग ही।
मेरे तप में, जप समाधि में धूम था,
स्वार्थ, व्यंग्य, अपलाप, शाप का, हेय का
निम्न कोटि का, नरक-द्वार का भाव था।
जाना मैंने हाय, आज क्या हो गया
निश्चय कुछ भी नहीं कर रहा—क्या कहा—
'क्या न अभी तक देख सके संघर्ष का,
साहस का औ' शक्ति साधना का कुफल ?
देवों का असुरों से क्यों सम्राम यह
होता रहता सदा। जगत् मे शान्ति का
क्यों न रूप ही देख सकीं हम आज तक
यह अकाम्य की सदा कामना दु:ख है।'
ठीक, ठीक ही कहा सुखों की आस में

दुख ही नर ने बढ़ा लिये है घोरतर।
शान्ति वस्तुत. शब्द-कोप की वस्तु ही
रही। हाय मानव ने यह क्या कर दिया !
नारी को निज सुख का साधन मानकर
उसे बनाया हमने पथ का पुष्प है।
परब्रह्म ने सृष्टि रची थी इसलिए
हम सब सुख से रहें समान विभाग से;
जीवन का सुख भोगें, देखें प्रकृति का
उज्ज्वल अभिनव रूप, स्वर्ग का सृष्टि को
दिखला दें, उस जीवनेश को कर्म का
सुन्दरतम फल और सफल जीवन करें।
ओ जीवन के हारा, आज तुम हँस उठो,
देखो रवि-आलोक, चन्द्र का स्मय मधुर,
पुष्प-पुष्प पर किरण डाल जीवन बना
इस लघु में हो सारे जग का बिम्ब ज्यों ?

(बालिका रोती है, ऋषि उसे उठाकर प्यार करने लगते हैं।)

(एकदम कुछ सोचकर)

हैं,यह क्या,यह क्या मैं भूला लक्ष्य निज,
किंवा मेरा भूला है सुविवेक ही !
अन्तर मे घुटता-सा है यह धूम क्यों
फोड़-फोड़कर इस शरीर से निकलता !

सब-कुछ भ्रम-सा, मिथ्या सा लगता मुझे
देख रहा हूँ सब-कुछ खोया आज तो!
नहीं, नहीं यह हृदय राग कुछ भी नहीं।
मैं बनने 'ब्रह्मर्षि' चला था, दुख हा,
राजा बनने चला भिखारी हो गया!
हीरा होने चला कोयला हो रहा!
सत्य सुधा मे, विष मे, औ' मणि काँच में,
तिमिर तेज मे और दिवस मे, रात में,
पशु मे, मानव मे, जीवन मे, मृत्यु में
नहीं कभी क्या कोई भी अन्तर रहा?
कुछ भी स्थायी नहीं विश्व मे एक 'मैं'
का मिल जाना ही महान् में सार है।
क्यो न आज फिर 'अहं' खोजने को चलूँ?
क्यों न विश्व का नरक छोड़कर स्वर्ग से
मिलने जाऊँ जो शाश्वत है, नित्य है।
अरी बालिके! तू अपने ही दैव पर
जी या मर। मेरी तू कुछ भी है नहीं।
कोई भी कुछ नहीं 'कहीं' भी कुछ नहीं
स्वयं 'अहं' यह बँधा हुआ है हँस रहा।
औ' इसकी नश्वरता से नित फूटकर
रोता है जग नित्य तुहिन के व्याज से।
पतझड़ के पीछे वसन्त है यदि यहाँ

क्षार-क्षार कर देने वाला ग्रीष्म भी—
तो वसन्त के हँस उठते ही आ खड़ा
होता जलती-सी मशाल रवि की लिये।
रोना हँसना, दिवस-रात की ही तरह
जीवन और मरण से आता जा रहा।
हा, हा, जीवन के छोटे से श्वास पर
सब प्रपंच उठते विलीन होते सभी।
क्यों फिर मैंने हाय, आग को हृदय से
लगा-लगाकर तप का मृदु कौषेय लघु
भस्म कर दिया क्षण में अरे, क्षणार्ध में।
नहीं बालिके, मैं न रुकूँगा तनिक भी।
तब शैशव मे अनल जल रहा, श्वास में
जीवन उठ-उठ मूर्त बना-सा, घृणा-सा
मुझ पर ही हँसता है हँसता जा रहा।
मानो सब-कुछ किसी कृपण का लूटकर
डाकू करते अट्टहास उपहास हों।
हाय, पतन ने क्षण-भर में ही छीन ली
संचित हृदय-विभूति। प्रेत-सा कर दिया।

(बालिका दृष्टि भरकर ऋषि की ओर देखने लगती है, ऋषि उसे बिना देखे ही चले जाते है।)

मत्स्यगन्धा

पात्र

मत्स्यगन्धा

सुभ्रु

अनङ्ग

पराशर

पहला दृश्य

गंगा का किनारा, संध्या समय—

(मत्स्यगन्धा और उसकी सखी सुभ्रु नदी-किनारे के उपवन में पुष्प-चयन कर रही हैं ।)

दोनों—

(गाती हुई)

गन्ध विधुर मन्द पवन
निखिल सुरभि मुग्ध सुमन
घूम-घूम करें चयन
आओ सखि, आओ सखि !

जागा सुख-संध्या सुहाग
भरता अंग में, जग में, विहाग
भरता प्राणों में अबुझ आग

गुञ्जित पक्षी रव कुञ्ज धाम
मद के नद-सी भर गई शाम
तन में मन में है काम वाम

उल्लसित सुमन, उल्लसित पवन
यह मुक्त सुमन, यह लग्न सुमन

आज घूम करें चयन
आओ सखि, आओ सखि !

सुभ्रु— (सन्ध्या के सौन्दर्य में मग्न-सी होकर)

देखो, सखि देखो, देखती हो अरे, कैसा यह-
मंजु वीणा-पाणि शारदा की स्मय-भावना-सा
स्फटिक—प्रफुल्ल फुल्ल धराधाम दीखता है।
मन्द-मन्द मारुत का प्राण-सा निखर रहा
मान-सा बिखर रहा शची के विलास-सा
मधुर। इस बेला री, दिनान्त में प्रभात-सा
हुआ है। विशद चल वीचि-माल जालियों में
घुलने लगी है सब रक्तिमा समेटकर
आशाएँ हृदय की। मधुर मधुरतर
भरता-सा कोलाहल मुखरित हो-होकर।
माधवी की, यूथिका की, मंजुश्री--पुष्पराशि
मद के चषक से उँडेलती प्रभूत पूत
शोभित वनान्त में निशा का मुख खोल-खोल
देखा अरी, देखा, कैसा . .

मत्स्यगन्धा— (फूल चुनती हुई ठहरकर)

—सुन्दर महान् सब।

नित्य देखती हूँ सखि, मुक्त-गुच्छतारिका का
नभ में अनभ्र हास, क्षितिज के मुख पर

रोली-सी लाल लाल, होली खूब जलती है,
जैसे सारे नभ का अनल जल-जलकर
मदहीन उसे कर देने उठ आया आज।
और देखती हूँ द्वितीया के चन्द्रमा ने दूर
मांसहीन अपने हृदय की रेख खींचकर
उस नील नभ का सुनील पट चीर दिया,
नागदन्तिका-सी वक्र गाड दी किसी ने वहाँ
अनजान में ही मंजु ग्रन्थियाँ कपूर की।

(विभोर-सी होकर)

प्रिय सखि, आज मम हृदय सिहर कैसी,
प्रकृति हृदय ही या हुआ मुग्ध ऐसा आज,
मानता नहीं है मन, यौवन की क्या लहर
कहता जगत् जिसे होगी वह कैसी भला ?
कौन जागता है, कौन सोता मेरे पास छिप
जान सकना कठिन। किन्तु, देखती यही कि कोई
राग-सा बजाने मेरे प्राणों की बीन पर
चल चल आता है। कौन है बता तो वह
देखते ही जिसके मैं भूल जाती सुध-सी,
विश्व भूल जाती, भूल-भूल धर्म नीतियाँ भी,
अतल हृदय-ताल निर्मल अमन्द मन्द
उठती तरंग मेरे अंग-अंग, प्राण में।

कैसा यह, कैसा यह, भावना से प्रेरणा का
प्राणों से है मन का अमिट सयोग हुआ ?
कैसी यह जीवन मे लसित तरग सखि ?

सुभ्रु— (आश्चर्य में आकर)

तेरे मृदु अन्तर में कौन चुप-चाप बैठा
गा रहा है गीत, मैं तो जानती नहीं हूँ कुछ ?
मैं तो यह जानती हूँ कोई कह जाता मंजु—
मंजु-वृन्त-किसलय-तन्तु मे उलझती सी
प्रमुदित कणों की-सी सुपमा लिये हुए
आई हूँ धरा पर न जाने, कौन जाने सखि ?

मत्स्यगन्धा—

(उन्मत्त-सी होकर)

जाने कैसा हो रहा है, कैसा यह हो रहा है,
मेरी सब इच्छा की सीमाएँ बिखरती हैं;
जैसे मै अनन्त मद, किन्तु हुई मदहीन ?

सुभ्रु—

हाँ-हाँ यह—

मत्स्यगन्धा—

कैसा कुछ—

सुभ्रु—

—रोम का मृदु प्रकम्प

मत्स्यगन्धा—

ऐसा यह रोग फिर इसका उपाय क्या?
किन्तु निरुपाय साध्यहीन भी तो कैसे कहूँ
बता तू ही, तू ही बता ''

सुभ्रु—

—जाने दो अबाधमान
गति से अनन्त तोय भरे हुए ऊर्मि लिये
बहती सरित नित मानो कान बन्द कर।

मत्स्यगन्धा—

दु:ख-हीन, लक्ष्य-हीन, स्वर-हीन, लय-हीन
एक ही प्रमत्तमति, एक ही प्रमत्त गति।
ऐसे ही तो मैं भी बही जा रही हूँ, किन्तु मैं तो
नाविका हूँ, केवट की बेटी, काम जिसका है
पार पहुँचाना। नहीं, लहर-सी मुक्त हूँ मैं,
मुक्त गुच्छ कलिका-सी स्वर्ग ने गिराया जिसे
साधना का बोझ लिये। और इन ऊर्मियों ने
स्नेह के विधान ऐसा, अस्थिर प्रकाश ऐसा—
प्रेम की जलन ऐसा '

सुभ्रु—

—मान सिखलाया है।
जानने लगी है अरी, तू भी मान होता है क्या,

मानने लगी है निज हृदय की सीख सखि ?
मैं क्या हाय, मैं क्या जानूँ, जानती नहीं हूँ कुछ।
मैं तो चाहती हूँ शुभ्र-सुमन की मंजु-माल
बन जाऊँ, बन जाऊँ शरद सुधांशु-सी।
और नभ-हास का विलास लिये फैल जाऊँ
मुक्त नभ नीलिमा मे तारिका प्रफुल्ल-सी।
खोल निज हृदय बिखेर दूँ प्रमत्त मधु।
जिसके शकल घन सुधा से अनन्त झर
विश्व को अमृतमय, विश्व को अजरतर,
विश्व को अमरतर कर दें अनन्त काल।

(फूल चुनती हुई आगे बढ जाती है।)

(छायामय अनग का प्रवेश)

मत्स्यगन्धा—

आप कौन ?

अनंग— —मैं अनंग विश्वरंग।

मत्स्यगन्धा—

काम क्या ?

अनंग—

—प्रताड़ना, विमोह मृदु।

मत्स्यगन्धा—

ऐसे सुकुमार आप ''

अनंग—

—चन्द्र में प्रसाद-सा,

सुमनों मे पुष्प-रस, कण्ठ कल कोकिल मे,
हूँ प्रगल्भ हास मे, जपा मे अरविन्द कुन्द,
गर्विता सुमालती मे मदिर-मदिर गन्ध,
यौवन मे तृप्ति हीन तृष्णा, प्ररोहलोम।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु प्रिय-मानव मे

अनंग—

—सैकड़ों वसन्तह्रास,

शत-शत उद्‌गार, शत शत हाहाकार,
प्रणयों मे पीड़ित हृदय का अवर्ण्य छन्द।

मत्स्यगन्धा—

देख तुम्हे हे अनंग, प्राण नव आस लाया
जैसे लिये आ रहा कि शेष हो अशेष को।
कैसे तुम सुन्दर, ज्यों मिश्रण हो शैशव का,
यौवन का, तारिका, विधु का, विलास सब।
आहा, तुम्हे देख मानो जीवन परम साध
जुड आई हो ज्यों बाल-रवि उषा संग-सग।
देखी ऐसी, देखी कब, दामिनी की शुभ्र रेख
मूर्त रूप धर चली, उतरी अनन्त से

इस जग दु:ख से अमर करने के लिए,
युक्त करने के लिए सुख को अमृत में।
मानो विश्व-राग ही शरीर धर आया हो।
हीरक के सर मे जड़ी है नील मणि मानो
बुरक दिये है लाल कूटके कहीं-कहीं।
अष्टमी के चन्द्रमा की फाँक ऐसी शुभ्र आँख
कर्ण कुहरों से कुछ कहने चली है आज ?

अनंग—

मैं तो प्रिय यौवन अनन्त हूँ, अनन्त दान,
यौवन अनन्त मान, ध्रुव-सी, विरुद माल।
विश्व के समस्त सुख का हूँ एक ज्योति-पुञ्ज
पद चाप-हीन नित भू पर उतरता।
यौवन उदग्रगन्ध मत्स्यगन्धे, जग में है
दिशा आलबाल में सुधांशु के उदय-सा
तमहीन, जैसे नभमालिका बटोर सब
तारिकाएँ भूरि भेंट भेटती दिवस को।
और वस्त्र-हीन और आभूषणहीन रति
तिमिर उदधि में छिपाती निज रूप छवि,
वैसे यह यौवन है जीवन-अकल्प पुष्प
तुझे अपनाने आया

मत्स्यगन्धा—

—ओ अनग, ओ अनंग!
मैं दरिद्र केवट की बेटी हूँ उपाय-हीन
एक उल्कापात-सी निरर्थ धरा धाम पर।
छोड़ दो मुझे न व्यर्थ पात्र करो हे अनंग,
यौवन चषक का अनन्त मद नव-नव।
क्या करूँगी लेके इसे असहाय दीन-हीन
कहीं नाव डूबे न,

अनग—

अतल जल-धार में।
यही न, यही न, तुम कहती हो किन्तु सुनो,
मैं न देखता हूँ धन-वैभव अतुल बल।
देवों ने इसी के लिए किये है अखण्ड तप,
और वे अमर हुए लिये धन-मद का।
एक यही परमेहा यौवन अनन्त रहे।
विष्णु आदि देव भी तो चाहते हैं नित्य यह।
च्यवन-से ऋषियों ने यह वरदान लिया,
यक्ष, नाग, किन्नरों को सदा अभिप्रेत यह?

मत्स्यगन्धा—

किन्तु मुझे चाहिए न हे अनंग, यह दान
मेरे लघु प्राण में अनन्त अब्धि-मद-भार

कैसे आ सकेगी हाथ, कैसे मैं उठाऊँ बोझ
कैसे एक पात्र मे भरेंगी सरिता महान् !

अनंग—

कब प्रिय अवसर मिलता है बार-बार
लीलता ही जाता यह काल-व्याघ्र चुपचाप !
किन्तु मैं तो देखता हूँ, देख ही रहा हूँ सत्य,
हृदय-उमग कब ज्ञान को बनी है प्रिय ?

(प्रस्थान)

मत्स्यगन्धा—

(जागती-सी चेतन होकर)

कैसा यह छाया-चित्र, प्रिय सा कहाँ से आया
क्या कहा, सुना न हाय, देखा कब निरुपम,
निर्विकार, प्राण-सुख, क्या कहा न याद कुछ ?
घूमता-सा देखती अलात-चक्र ऐसा चित्त,
रह-रह, काँपती है रोम-राजियाँ निखिल।
इष्ट सा मिला हा, हो' मिलन सा हुआ क्षणिक
कल्पना, छलावा-सा, प्रवेग सा गया है छिप,
या उमंग मन की थी, या तरंग जल की थी,
या फुहार मेघ की-सी झलकी, ममा गई ?

सुभ्रु— (सुभ्रु का प्रवेश)

क्या हुआ है तुझे सखि, कौन था, कहाँ था कौन

मै न देख पाई कहीं साधना परम-सी।

मत्स्यगन्धा—

मिली प्रिय प्राण छवि, मिला प्रिय प्राण-दान,
वक्र सी भृकुटि लोल नेत्र मद सरिता-सी।
हाय, वह यौवन का क्यो न वरदान लिया,
क्या न अभिमान मिला योवन निखिल रा।
लाओ प्रिय, दे दो अभिशाप भी तुम्हारा प्रिय
हे वरद, हे महान्, हे अनंग! अग-अंग

सुभ्रु—

आओ चलें, आओ चले मैं न समझी ही कुछ
क्या मिला, गया क्या हाय, कौन था हृदय धन?

मत्स्यगन्धा—

जान कहाँ पाई सखि, खोजती पलक डाल
हृदय बिछाये हुए उसको न जाने कौन?
स्वप्न-सा समाया और विस्मृति बिद्रमन
यौवन की छाया एक, सिहरन भर गया,
भर गया रोम रोम, अंग-अंगप्राण शत
शत-शत मद नद, शत-शत हाहाकार।

सुभ्रु—

यौवन का प्राणवाह पञ्चशर द्वार-द्वार
फिरता अनन्त छवि भर-भर अग में।

जीवन यही तो सखि, जीवन यही तो प्रिय,
है यही प्ररूढ़ उद्दाम राग प्राण का !
स्वप्न की निखिल भूति, अनुभूति साधना की
विश्व की विभूति एक-मात्र, एक-मात्र रुचि।
कण कण पिण्ड के हैं जाग उठते-से देख,
भर जाती रोम रोम अतुल पिपासा उग्र,
विश्व अभिनव मद, अभिनव राग यह
नव-नव प्रतिपल आलिंगन प्राण-दान।
स्वप्न सखि, चिर सत्य, प्रिय सखि प्राण-गान
मूक जग जागृति अथच हेय अन्य सब।
आओ चलें, आओ चलें।

मत्स्यगन्धा—

—पद गति-हीन हुए।
छन्द यति-हीन हुआ, मति हीन मति है।
(प्रस्थान)

दूसरा दृश्य

प्रदोष समय —

मत्स्यगन्धा—

(नाव के पास डाँड एक हाथ में लिये)

यह ग्रन्थि, यह ग्रन्थि सुलझेगी या कि नहीं
उस दिन देखा था क्षणिक अथ तृप्तिकर।
हाहा, यह कण्ठ अवरोध कर देने वाली
दाहकर, सुखकर पिपासा न शान्त होगी ?
कौन तप्त शृंखला में जकड़ रहा है मुझे
उबल-उबल मेरा प्राण भाग उठता ?
क्यों न राका शारदा सदा ही रहती है यहाँ
मुक्त हास लड़ियाँ-सी छोड़-छोड़ नभ से ?
क्यों न ऋतुराज का समाज चिर काल तक
कल्प-वल्लरी के मंजु अपर कुसुम-सा
विकसित होता है अनत मद-भार लिये
औ' अनन्त प्यार लिये यौवन के तट पर ?
क्यों न मकरन्द-मद मत्त षट्पद यह
शिंजना बिखेरता प्रसन्नता उँडेलकर ?

ध्रुव भी प्रकाश-हीन रहता निशान्त मे है
कैसा यह वैपरीत्य ··· ।

(देखती है जटाओ की गठरी लादे नाभि तक लम्बी दाढ़ी फहराते हुए एक ऋषि सामने खडे है।)

पराशर—

—उस पार जाना है।

मत्स्यगन्धा—

(घबराकर स्वगत)

हैं-है यह कौन, प्रिय यौवन का एक दीप
नर-अभिलाषा का निपट असमान पुञ्ज !

(प्रकट)

हो प्रणाम देव, शिरसावनत कन्यका का
स्वीकृत, पिता ने आज भार यह सौंपा मुझे
यद्यपि विमूढ़, मूर्ख दारिका मैं केवट की ?

पराशर—

शिव-शिव कहो कौन मूर्ख, कौन मूढ यहाँ
काल जीवनेश सिखलाता है प्रपंच सब
पार पहुँचा दो सुकुमारि, शीघ्र शीघ्रतर।

मत्स्यगन्धा—

हाँ-हाँ किन्तु ·······।

पराशर—

—गर्भित है 'किन्तु' में क्या ?

मत्स्यगन्धा—

जीर्ण नाव, शीर्ण बल, अनिल प्रबल।

पराशर—

—चलो।

जाना ही है पार पहुँचा दो प्रिये, त्वरतर।

तीसरा दृश्य

समय सूर्यास्त—

(नाव में पराशर ऋषि बैठे हे, मत्स्यगन्धा नाव चलाती है।
सब ओर शान्ति है केवल कभी छप-छप की ध्वनि सुनाई दे जाती है।)

मत्स्यगन्धा—

यह तो अनय प्रभो, कैसे मान लूँ मैं यह,
हीन जाति तो भी है समाज का अनन्त भय।
कैसे यह, आप ही बताइये, बताइये न?

पराशर—

ठीक है समाज का प्रवाद अति दारुण है।
किन्तु है समाज का विधान तो मनुज-कृत,
छिन्न कर देता वही जो इसे बनाता कभी
मानव की प्रेरणा का फल ही नियम है।
आओ, सुकुमारि, सब तोड दे नियम-जाल
प्राण जड़ बन्धनों मे जीवित रहा है कब?
रवि जो प्रकाश देता विश्व मे किरण डाल
वही हीन प्रभ नष्ट होता है दिनान्त में।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु हिताहित भाव मूल है नियम के
और ये नियम ही समाज शिलाधार है।
यह है अधम काम ज्ञान-हीन मानवों का,
आप तो महान् ज्ञान-गुण के निधान है।
मैं हूँ दीन नारी, अज्ञ, मूर्ख, अविचारी प्रभो ?

पराशर—

(सोचते हुए)

शिव शिव कहो प्रिये, धर्म है अनन्त रूप।
तथा वचनीय नहीं साधारण नर को।
'सृष्टि मूल धर्म है, प्रकृति मूल कर्म सदा।
श्रद्धा मूल भक्ति मे समाज फल मूल है।'
तुम नहीं जानती हो धर्म का गहन रूप
यह अविचार्य अथ सरल जटिलतर।
मानता है मानव जिसे ही धर्म वस्तु आज
कल वही होती अविधेय नर-लोक में।

मत्स्यगन्धा—

किन्तु ऋषिवर, जिस कार्य का सम्बन्ध जहाँ
उससे वही तो फल पाता है स्वकृत नर।
नाथ, क्षमा कीजिये, मैं जानती नहीं हूँ तो भी
अपने को चीन्हती, स्वधर्म को भी चीन्हती।

नारी के स्वरूप, सुख, शोभा मे छिपे है देव,
संख्या-हीन अभिशाप, संख्या-हीन यातना।
वासना का वेग बहता है अति भीम वहाँ
कृच्छ्र दमनीय, वह प्रलोभन पुञ्ज और
आकर्षण। नारी एक श्वेततम पट सम
जिस पै तनिक बिन्दु-पात भी कलंक है।
अल्प ही अकाम्य गति, अल्प ही विधान भग
अल्प ही कुपथ गति, यति है विकास की।
अपयश, अपलाप नारी के लिए है सृष्ट
जीवित ही नारी का वरण कर डालते।
कैसे तोड़ बन्धनों को जो अनादि काल से है
आज मैं अबन्ध हो चलूँ क्यों अविधेय पथ ?

पराशर—

ऊँच-नीच कोई नहीं, पाप-पुण्य कहीं-कहीं
कर्माकर्म कुछ नहीं, ओ अनंग-रंजिते !
सब ही अपेक्षाकृत अविधेय औ' विधेय
है नियम निर्माण भंग-मूल जग मे।
एक नर-गौरव-सामर्थ्य ही महान् यहाँ
लघु को विधान हैं, नियम हैं, समाज है।
देखो, लघु सरिताएँ चलतीं विधान लिये
और वही पावस में बाँध तोड़ चलतीं।

मध्य रवि के लिए क्या कोई भी नियम है ?
स्थल समता की क्रन्दनाएँ करते हैं अति
किन्तु भूधरों की उच्चता का नहीं अन्त है।
नियम महान् के महान् ही तो होते आए
लघु के नियम लघु होते है सुचिरतर।
नर है अतर्क्य, ज्ञान उसका अतर्क्य सुभ्रु ?
मानव समस्त विश्व-चेतना का मूल है।
आओ, इस कृत्य मे भविष्य का प्रकाशमय
एक दीर्घ तारक का दैव सुनिहित है।

मत्स्यगन्धा—

(घबराकर)

किन्तु ऋषि, क.यकात्व ?

पराशर—

—वह भी कलक-हीन।

मत्स्यगन्ध —

माननीय होगा क्या ?

पराशर—

—री, नर तो सदा अदोष।

मत्स्यगन्धा—

कैसा वह यौवन का रत्तणीय रूप मधु
चिर-चिर काल तक अन्त-हीन सुख क्या ?

पराशर—

देखता हूँ सुन्दरी, मैं निज ध्यान दृष्टि से ये
तुममे भरी है चिर यौवन की साधना।

मत्स्यगन्धा—

(उत्सुकता से)

हाँ-हाँ है विचार यह, अविचार होगा यह,
क्यों न ऋतुराज कल्प-कल्प तक रहता ?
यह जन्हु-कन्या सदा यौवना ही दीखती है
क्या न मेरा यौवन

(लज्जा नाट्य)

पराशर—

—अनन्त मद-राशि हो,
देता वरदान तुम्हें किन्तु नारी, प्रिय भी
सदा न प्रिय लगता है—

मत्स्यगन्धा— (हाथ जोड़कर)

—नाथ, यह इष्ट मुझे।

पराशर—

एवमस्तु-एवमस्तु—

मत्स्यगन्धा—

—एवमस्तु प्रियतम।

(एकदम अन्धकार छा जाता है, नाव स्थिर हो जाती है, उसी

अँधेरे में संवाद सुनाई देता है।)

एक आवाज़—

नाथ, यह कन्यकात्व ?

दूसरी आवाज—

—वह भी कलङ्क-हीन।

पहली आवाज़—

माननीय होगा क्या !

दूसरी आवाज़—

—री, प्रभु है सदा अदोष।

पहली आवाज़—

नाथ, वह यौवन का रमणीय रूप मधु
थिर चिरकाल तक अन्तहीन सुख क्या ?

दूसरी आवाज—

आओ, इस कुक्षि में भविष्य का प्रकाशमय
एक दीर्घ तारक का दैव सुनिहित है।

(आवाज धीमी होती जाती है)

पहली आवाज़—

क्या न मेरा यौवन ?

दूसरी आवाज़—

—अनन्त सुख-राशियुत।

देता वरदान तुम्हे। किन्तु प्रिये, प्रिय भी
सदा न ।

पहली आवाज—

—प्रिय रहता है, नाथ, वही इष्ट मुझे।

दूसरी आवाज—

एवमस्तु एवमस्तु—

पहली आवाज—

—एवमस्तु-प्रियतम !

चौथा दृश्य

मत्स्यगन्धा—

(एकाकिनी उसी नदी के किनारे)

क्या हुआ हा, कैसा यह, याद पड़ता न कुछ
रोम-रोम बहा नवचेतन अनन्त आज,
और लगता है जैसे विश्व अभिनव ने ही
मद का उदधि भर डाला मानो देह मे।
देखती हूँ लतिका का एक मूक कम्पन-सा
फुल्ल सुमनों में भर रहा है अनवरत
दीप्त प्राण, मूर्त श्वास, जग का विलास सुख।
दिशा की वधू की वेणी खोलने लगे ये मेघ
वेणी ही बने हैं किम्वा मेरे कुन्तलों मे भूल।
अमृत, आनन्द, मद रोम रोम लहराता
मेरी मत्त चेतना मे सोता हुआ उठकर।
सीवन-सी तोड देने देह की चले हैं आज
प्राण मेरे बन्धन निर्बन्ध करते हुए।
विश्व-सुषमा से इस नील नभ में ही किम्वा
मृदु, स्वेद-बिन्दुओं का अजर नक्षत्र-लोक

पाँचवाँ दृश्य

समय सन्ध्या—

(सत्यवती क्रीडा-उद्यान में स्फटिक शिला-तल पर बैठी वीणा बजा रही है। सामने फुहारे से जल के कण आकाश में पवन पर नाचकर आलवाल में गिर रहे हैं। सूर्य की अस्तोन्मुख रश्मियाँ अपने सौन्दर्य से उद्यान की लताओं, तरुओं, कलियों, कुसुमों और पानी के स्रोत को रगीन कर रही है।)

मत्स्यगन्धा—

(गीत)

मदिर-मदिर यौवन-उभार चल
मधुर-मधुर मेरे सिंगार पल
सप्त सिन्धु एकाकी जीवन
नभ असीम एकाकी यौवन
छवि में प्रिय की छवि लाके तुम
प्राण झरोखों से झाँके तुम
कुन्तल पर लहरों के बादल
नाप 'आज' से रहे नये 'कल'

उमँगे जग के मद-सागर से
आशाएँ यौवन-गागर से
पुलक पुलक यौवन खुमार जल
मधुर-मधुर मेरे उभार चल

(सुभ्रु का प्रवेश)

सुभ्रु—

गीत में क्या यह सुख, यह मद ? जाना नहीं
कण्ठ का सुरीला स्वर शत परभृत-सा,
मद-सिक्त रूप-सिक्त, सुधा-सिक्त, सुख-सिक्त
सुना ऐसा कभी नहीं चेतन अचेतकर।

मत्स्यगन्धा—

यौवन के उठते उभार से मैं नाप रही
कोने युग युग के औ' सप्त-रश्मि सीमा-धन
अपने ही नेत्र की सुरश्मियों से धोने चली,
धोने चली विधु का कलंक निज हास से।
मैं गगन जल-घन, मेघ मन्द्र गर्जन को
अपने ही यौवन के स्वर से हूँ साधती।
मेरी है अछोर आस, साहस अथक मेरा
प्राण हैं सुदृढ़ वज्र दण्ड से अजेय गुरु,
नाप सके पृथिवी की, नभ की भी सीमा सब
एक ही-सी गति से अयति पद-गति मम।

मेरे उग्र यौवन का मध्य काल हीन-संध्य,
विशद विजय वैजयन्ती निज गाड़ धरा,
नभ की नवीना दामिनी का पीत भाल फोड़
रँग रही स्वर्ण के सिन्दूर में दिशाएँ सब,
रँग रहा सागर की सुन्दरी की नीली माँग,
कुन्तलों से खेलती जो छाया डाल प्रेम की।
मेरे मंजु हास से प्रकाशित विलास-केलि,
भूल गई, भूल गई आज मैं, अभाव सब ?

सुभ्रु—

(प्रसन्न होकर)

ऐसा सुख यौवन का चिर-चिर काम्य सखी ?

मत्स्यगन्धा—

तृप्ति है असीम सुख, तृप्ति है अनन्त मधु
वही मैंने पाया आज यौवन के स्वर्ण द्वार;
यौवन है स्वर्ग धाम, यौवन अहेय काम
आज मेरे यौवन का अन्त हीन मध्य काल।

सुभ्रु—

रह क्या सकेगा यह एक ही प्रकार से ?

मत्स्यगन्धा—

हाँ-हाँ, वह वरदान हुआ सत्य आज ही तो
कोई भी न काम्य आज, कामनाएँ दासी मेरी

सभी की सुशासिका सिन्दूरिणी है सत्यवती।
आज चिर यौवन की ताप-हीन नाव चढ़
बनी अलबेली घूमती हूँ अविरुद्ध पथ
जीवन की सरिता में डाँड डाल ऊर्मि सुल,
मुक्त नभ, मुक्त काल, छंद बन्ध तोड़ छोड़,
यति-हीन कविता-सी, बाधा-हीन सरि-धार।
—आगम के चिन्तन में मग्न मूक विधाता-सा
मेरा मौन अतिरेक सुख के ऽनुभाव का,
सिद्धि का, समृद्धि का अनन्त अभिलाषाओं का
और तृप्ति प्राप्ति का भी, रश्मि सिन्दूर-सा।
—मेरे ही यौवन का प्रकाश 'शीत-रश्मि' लिये
पृथ्वी पुलक पल चूमता है झूम-झूम
और मंजु मुक्तादल पल्लव हृदय डाल
पुष्प-कलिका की चिर आशाएँ सँजोता नित।
—मेरे ही यौवन का प्रकाश उग्र रश्मि लिये
जीवन में रस का प्रभाव भरता है नित;
औ' अनादि सुन्दरी उषा के ऽनिन्द्य आनन को
चूमने की लालसा में दौड़ता-सा दीखता;
आज भी तो संध्या के सुनील लाल पटल से
अधर, उरोज दल चूमने को, छूने को,
पाने को सहस्र गुण वेग से, त्वरा से भर

दौड़ता ही रहता ऽविलम्ब कामना-सा धन।
क्या न यह यौवन का भाव भूरि सखि, रहा
जिसमें न कहीं गति, विरति, विवेक लेश ?
किन्तु मैं तो मानती हूँ यौवन है वरदान
जीवन में मिलता जो यौवन, अहेय सखि ?
शैशव अचेत सुख अति भोले जीवन का
जिसमें न अपना, पराया फिर होगा क्या ?
वहाँ शिशु खेलता है बाधा-हीन लघु-लघु
अविकच भावना से जीवन के तट पर,
केवल है खेलता ऽपदार्थ के खिलौने लिये
जो न वस्तुत सत्य यह शिशु पूर्व रूप।
बालक भी बालक है रस में, विलास में भी
केवल उमंग वह खेलने में, खाने में।
बालक है सीढ़ी एक जीवन के लक्ष्य हेतु
यौवन ही जीवन का एक-मात्र ध्येय सखि ?

सुभ्रु—

और वह जरा—?

मत्स्यगन्धा—

—हाँ, जरा है पतझड़ ही तो,
सब-कुछ जिसमें, प्रभोग्य कुछ भी नहीं।
वह तो है जीवित-सा सपनों की याद लिये

एक कंकाल मात्र जर्जर, रस हीन
वह तो है स्वर्ग-भ्रष्ट पतित त्रिशङ्कु-जैसा
याद जिसे वह सुख यौवन का एक-मात्र
और जो न भोगता है अक्षय अथच रुग्ण।
वह तो है मृत्यु और यौवन का संधि-काल
निर्वासित यौवन से भोग्य, मृत्यु-रुद्र का।
आज इस यौवन की मैं अजस्र रस धार ' ।

सुभ्रु—

अरे हाँ, हाँ, याद आया मैं तो भूल ही-सी गई
हुआ जो अनर्थ कहती हूँ आज हाय, वह।

मत्स्यगन्धा—

क्या हुआ कहो तो कुछ, क्या अनर्थ, कैसा हुआ ?

सुभ्रु—

आज महाराज लौटे जैसे मृगया से तभी
सुना गया बेसुध हैं संज्ञा-हीन विह्वल।

मत्स्यगन्धा—

(चौंककर) कैसे यह हुआ कैसे ' '?

सुभ्रु—

—कहते है मृगया में
सिंह ने प्रवेग किया आक्रमण भारी एक
और महाराज थे असावधान उस काल

ध्यान में किसी के और (हँसकर)=कदाचित् तुम्हारे ही!

मत्स्यगन्धा—

नहीं, नहीं, ऐसा भी क्या किन्तु यह हुआ बुरा
क्या न अभी संज्ञा हुई, काँपते हैं अंग मम?
चलो चलें, चलो चलें

सुभ्रु—

—आओ चलें देखें उन्हें।
जाने सुमनों में काँटे किसने उगाये तीव्र?

मत्स्यगन्धा—

सत्य ही क्या यौवन के अन्तर में कंकाल
नाचता है गुप-चुप धूमिल-सी रेख डाल?

(चली जाती है।)

छठा दृश्य

समय सायंकाल—

(विधवा सत्यवती प्रासाद के शिखर पर खड़ी है। क्षितिज की रक्त रश्मियाँ उसकी लटों पर चमक रही हैं, बिखरे हुए बाल हैं और अस्त-व्यस्त वस्त्राचल।)

मत्स्यगन्धा—

यौवन के सागर का अन्त ही नहीं है कहीं
मेरा मन तूफानों में उड़ा हुआ जा रहा।
मेरा स्वर्ग हीन हुआ हाय, पुण्य, पाप उस
आशा औ' उमग हुई भार हैं अनन्त की।
चण्ड रवि-रश्मि उग्र कौन भर गया हाय,
दाहक अनल ध्रुव मृदु तन-मन में।
यह अति वेगमय, यह अति दाहमय
बनी क्रूर काल की कराल अग्निमालिका,
जो न बुझती है नित्य धाँय धाँय जलती है
ज्ञान अम्बु पाके भी न होती है विफल-री।
जलती हूँ रवि-सी, अनन्त पाप पातकिनि,
जलती हूँ अग्नि-सी प्रलम्ब देह-यष्टि ले
'यौवन अनन्त दान यौवन अनन्त मान

अभिशाप वरदान, अपलाप वरदान ?'
नभ भ्रष्ट तारिका सी घूमती प्रकाश लिये
धूमकेतु धरा की प्रबुद्ध धूम-वाहिनी।
मेरा मन अग्नि-अश्रु बरसा न शान्त होता
द्विगुणित वासना भड़कती हुताग्नि-सी।
हन्त, हत यौवन का अन्त-हीन यह वेग
धूमिल निविड़तर घोरतर घनतर।
हे महान ऋषिवर पराशर, क्यों दिया था
वर यह खरतर। आग क्यों लगाई देव,
वल्लरी सुमालती में खिलते ही खिलते ?
हाय, यह उषा नित आती बरसाती आग
रक्त सा उबाल देती देह का छनन छन।
और भूनता है यह चण्ड रवि अस्त तक।
संध्या प्राण तार खींच क्षितिज में हँसती।
यामिनी, न पूछो यम गर्जना-सी करती है
पीड़ाओं को मूर्त रूप देती और देखती।
नख से शिखर तक चेतना से क्रिया तक
प्राण से हृदय तक, बेसुधी-सी झूमती।
घूमता शरीर यंत्र, घूमते नगर, धाम,
घूमता है नील नभ जगत् अलात-सा।
घूमते हैं चन्द्र, रवि, तारक अति-प्रवेग

घूमता है विश्वदण्ड भ्रम लिये भ्रम का।
अरे, कब अन्त होगा इस मद का प्रमाद का भी
सागर-सी ऊर्मियों का, क्वथित तरंग-सा।
भूली नाथ, भूली नाथ, ले लो यह वरदान।
लौटाओ, लौटाओ प्रभु, क्षण भी युगान्त है।
यौवन का वेग ऐसा प्राण-हीन देखा कब ?

(अनग का प्रवेश)

अनंग—

देखा अब कैसा लगता है ओ तरंगिणी ?

मत्स्यगन्धा—

(आगे बढ़कर)

हाय तुम, अरे तुम ?

अनंग—

(हसकर)

—मैं अनंग विश्वरग।

मत्स्यगन्धा—

तुम मेरे अभिशाप, जीवन के अपलाप,
ले लो, लो दिया जो ले लो, अविलम्ब हे अनग,
है असह्य भार यह दुर्वह प्रचण्डतर
दण्ड लघु कार्य का अजेय है, महान् है।

राका रस बरसाती अमृत किरण डाल
ग्रीष्म रवि-रश्मियों से सृष्टि का प्रपाक है।
शरद वसन्त का विलास सृष्टि सुख हेतु
पावस शिशिर का प्रवाह भी महान् एक
लक्ष्य लिये चलता है। यही क्रम जीवन का
यौवन भी जीवन का एक अति मृदु पल
विश्व दृढ़ता के हेतु प्राप्त है जगत् को।
विश्व के महान् कार्य यौवन-प्रसाद सुन,
अघ-नाश में भी यह यौवन प्रभास हैं।
राजनीति, धर्मनीति, सुख औ' समाजनीति
यौवन की सीमा में विहरते सफल से।
पियो, सुख मद यह यौवन का तृप्ति-हीन,
तृप्ति हीन प्राण अभिषिक्त हों विलास से।
तोड़ दो नियम-जाल अनुदेश मेरा यह
सृष्टि का समग्र सुख उठे राह देखता।
पियो कण्ठ तक, पियो ओठ तक ढाल-ढाल,
यौवन महान् है, अलभ्य है जगत् में।
विश्व डूब जाये, भूति, विभव भी डूब जाये
प्रिये, पियो अमृत अजर मग्न-मग्न हो।

मत्स्यगन्धा—

हालाहल यह मधु पीना है कठिनतर
जीना है कठिनतम दारुण विपत्ति-सा।
ले लो यह वरदान, (ले लो यह अभिशाप,)
लौटाओ अनग यह वेदना समुद्र-सी।
सीमा-हीन, अन्त-हीन, मन हीन, प्राण-हीन
व्याहृति-विहीन स्वर्ग सुरज साध-हीन सी।

(आँखे बन्द कर लेती है।)

अनंग—

आजीवन यौवन का वरदान हे सुमुखि,
कब न हुआ है भार यौवन विफल का।
यह तो रुदन तेरा अन्त-हीन फल हीन
आजीवन वेदना से जड़ित अपंग सा।

(प्रस्थान)

मत्स्यगन्धा—

हाय, मेरे जीवन का कैसा यह अपरूप
अपमान, इति है। न अन्त है अनंग रंग?

(आँखें खोलकर देखती है कहीं भी कुछ नहीं है। चारो ओर से बादल घिर आए हैं, सूर्य छिप गया है और घटाटोप अँधेरा छा गया है।)

डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओ,
डूबो धरे, वेदना में मेरी ही युगान्त की।

(इतना कहकर एकदम मूर्च्छित हो जाती है, सब ओर सन्नाटा छा जाता है।)

राधा

पात्र

राधा

विशाखा

कृष्ण

चन्द्रावली

नारद

पहला दृश्य

समय—प्रात आठ बजे

(निर्जन निकुंज म यमुना के तीर पर पुष्पो का मकरन्द उड-उडकर पवन के प्राणो को पुलकित कर रहा है। शैशव की भोली स्मृतियों की चादर को स्वप्न की तरह हटाकर कलियाँ कुसुमो के रग में भर रही है। वर्षा के दिन है, धूप भी निकला है, और पश्चिम की ओर से सघन घटा तूफान की तरह उठ रही है। बीच-बीच में इधर-उधर छाये बादलो में स्वप्न की सत्यता की तरह सूर्य निकल आता है और यमुना के नीले जल पर तैरकर सूरजमुखी की तरह उसे पीला कर देता है। निकुंज में सब ओर पुष्पो, वृक्षो, लताओ, पौधो ने स्नान करके अपनी स्वाभाविक कान्ति को धारण कर लिया है। वहाँ उस समय सौन्दर्य की तरह उज्ज्वल तथा रमणीय, मद की तरह मस्त धीरे-धीरे एक रमणी आती है—धानी रग की साडी पहने। हवा के हल्के झकोरो से उसकी साडी हिल रही है। उसकी आकृति और छवि को देखकर ज्ञात होता है वह उस वातावरण से प्रभावित हो रही है। इधर देखती है, उधर देखती है। कभी एक फूल को तोडने बढती है तो मानो उससे चिपट जाती है। तोडने का विचार छोडकर वह उसे देखती ही रहती है, फिर यमुना की ओर देखती है। कभी-कभी आ पडने वाली काले कपडे पर पीली छीट

की तरह सघन छाया को निहारती है। फिर फूल तोड़कर सूँघती है, फिर सूँघती है। धीरे-धीरे उसकी आकृति किसी याद में गम्भीर हो उठती है। सारी सौन्दर्य-लालिमा, सम्पूर्ण चञ्चलता मानो चित्रपट की तरह धीरे-धीरे बदल रही हो। अवस्था से अधिक गभीर वह रमणी एकाएक यमुना के किनारे बैठ जाती है—मूक, अर्धचेतन-सी, केवल स्वप्न की मूर्ति-सी अर्धजाग्रत, पैर यमुना के जल में, हाथ लहरों को थपथपाते हुए, ध्यान बिखरा हुआ। अचानक गाने लगती है।)

(गीत)

हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?
मैं तिमिर में खोजती हूँ हृदय का उल्लास क्यों ?
मुक्त तारक-निचय ऊपर
खेलते खुल गगन-भू पर

रे, धरा का दीप बन जल चाहता आकाश क्यों ?
बूँद-सा अधिकार तेरा,
चमक लघु, पर गुरु अँधेरा,
मन अँधेरे मे उजेले की रहा कर आस क्यों ?
हृदय की कहने न पाती,
उमँग उठती बैठ जाती,
मैं रही हूँ दूर जिनसे वह बुलाते पास क्यों ?
हो गया यह हास मेरा सब कहीं उपहास क्यों ?

(इस गीत की ध्वनि मानो प्रत्येक प्रकृति-प्रान्तर से प्रतिध्वनित

हो उठी है। वह चारों ओर देखती है। इतने में बादल जोर से गरजने लगता है। उसी भाव से—)

उठ रही घनघोर काली-व्यालिनी बदली मनोहर,
एक पुञ्जीभूत दुःख-सी मूर्ति सी नैराश्य की घन
क्षीनता-सी हृदय का मन स्वच्छन्द सुख कादम्ब मेरा,
भूधरों के शिखर पर सोती हुई सी करवटें ले
आँख में आँसू भरे मन में विरह की ज्वाल-माला
इधर बढ़ती आ रही है घूम जाग्रत-प्राण पल-पल।
उधर वह रवि हँस रहा है फुल्ल, पुलकित, लाल, पीला
क्षितिज की मृदु गोद से उठ किशमुख अनुराग-गोला
चूमता मुख किसलयों का, कुसुम का अनुरक्त आनन।
मृदु मदिर मकरंद पीती जा रही हैं ये सुनहली—
अप्सराएँ सुतनु चञ्चल कौन जाने, कौन आशा,
कौन जागृति, कौन सपने, कौन वाणी, कौन-सा सुख
हृदय में अपने छिपाये, प्राण में अपने पिरोये,
श्वास में अपने भिगोये मन्द-मन्द सुगन्ध सुन्दर?
सुलघु पल-सी, लाल, पीली औ' लजीली स्वप्न-धन-सी
तैरती है ज्यों कहीं से ला रहीं सन्वाद मीठा,
और यमुना की लहर में, प्राण में छिप भर रही हैं
प्रेम का ध्रुव मिलन, प्रति दिन हृदय का कण-कण सुसिंचण,
लहर में किरणें मिलीं ज्यों हृदय से जलता हृदय हो।

पर न जाने मैं किसी के स्वप्न-सी क्यो खो रही हूँ
श्वास ले, अनुराग ले, उत्ताल मानस में प्रलय भर,
किसी घन के बिन्दु-सी किसलय, कुसुम, तृण, ताल मे गिर
और गिर अंगार पर स्मृति-चिह्न हाहाकार का ले ?
इस नदी की लहर-सी टकरा रही, छितरा रही हूँ
और बहती जा रही अज्ञात पथ मे भूल सब-कुछ,
भूल सब अपना पराया स्मृति-विफल का भार लेकर
ढो रही हूँ, क्या न जाने क्या न जाने खो रही हूँ ?
कर दिवस कर जग प्रकाशित स्वयं जलता जा रहा है,
पर न आलोकित किया मैने किसी को स्वय जलकर।
एक मृदु मुसकान उस दिन की समाई आँख में है
जो हृदय को झील जल-सी उभरती अनुराग-मंडित।

(विशाखा का प्रवेश)

विशाखा—

आज जीवन की उषा मे हृदय में औदास्य भरकर
तुम निराले ढंग से क्या सोचती हो मलिन-तन मन ?
विश्व का उद्‌गार, वैभव समुज्ज्वल सुख-साधना का
क्या तुम्हे आनन्द-सा उद्‌बुद्ध करता है न कुछ भी ?
यहाँ, इस एकान्त में अत्यन्त निर्जन में सुमुखि, क्या
विश्व अनुपल जगमगाता और हँसता स्वर्ग-सा प्रिय
देख पडता कुछ न तुमको भरा-सा सुख-रागमय यह ?

राधा—(भवालसिता-सी)

हम किसी के स्वप्न की सुख-राशि सखि, यौवन-प्रखर की
लालिमा, अरुण मानो किसी कवि की कल्पना बन
उतर आई स्वर्ग से अपवर्ग के आनन्द में सन,
और धीरे उमड़ती-सी मद-भरी बदली उभरती
छा गई हो गगन-जग में कहीं से उड़, कहीं से बह,
वही हम। छल-छल छलकता प्यार से भीगा हुआ-सा
स्नेह-सा मीठा, हँसी सा शुभ्र, तारक-सा चमकता
मधुर जीवन क्या न जाने बोलता मीठा मृदुल री,—
स्रोत, सरिता, उदधि, तारक, कुसुम सार्थक जिसे पाकर
वरद के वरदान-सा आकण्ठ-तृष्णा-तृप्त जीवन।
किन्तु मैंने क्यों न पाया वही अक्षय-स्रोत-आकर
कह रहा है साथ को जो सो रही थी जागकर भी ?
हा, न मैं वह भूल पाई एक छवि जो दृष्टि में आ
कहीं रागों में समाई, विकल प्राणों से बिखरकर
मुझे ही विक्षत किया सखि, मुझे ही पीयूष-घन दे।
मैं नदी-सी बह रही थी स्वयं अपने बाहु के ही
दो बनाकर, दो किनारे। मग्न थी अपने हृदय में,
मग्न थी बहती चली ही आ रही अनजान पथ से
कुछ न लेकर, कुछ न पाकर; एक केवल आस थी यह
अन्य जन-सी भव-उदधि से पार होऊँगी, कभी हँस,

कभी भाकर भी पिता दूंगी विशाखा, विरह-सा यह
दीर्घ जीवन महापथ परिचित न होकर भी किसी से ?

विशाखा

तो हुआ क्या ?

राधा—

क्या हुआ, मैं मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टि-पथ में आ गए वे क्या कहूँ री !
वज्र-कीलित-से हुए उत्कीर्ण-से मेरे हृदय में ।
गाय-बछड़े स्तब्ध थे, नीरव दिगन्त, दिशान्त, नभ भी
एकटक सब मूक-से, जड़ से, जड़ित-से, द्रवित-से,
लघु-से, रहित-जीवन सभी जलचर गगनचारी दिखे,
हुआ क्या उस समय सबको पुतलियों-सा हो गया जग,
ज्यों नचाती हो कहीं कोई अपरिमित शक्ति लेकर
ध्रुव, अटल, मनहर, चराचर की वशीकर राग प्रतिमा ।

विशाखा—

कृष्ण के सम्बन्ध में यह कह रही हो प्रिय सहेली,
सह्य होगा क्या जनक को कंस का सामन्त है जो,
है जिसे मर्याद प्रिय औ' धर्म का पालन महाप्रिय;
धर्म के हित जिसे जग भी हेय-अनुपादेय राधे ?
कहेगा, 'यह वरा द्रुम-दावा लगाने जा रही है
शुद्ध सन्तति आज उसकी, व्यर्थ में कुल कर कलंकित ।'
कहेगा 'केवल पिता का वंश ही इससे न दूषित

महाकुल सम्भ्रान्त पति का कलंकित हो गया है।'
कहेगा, 'आदर्श बनना चाहिए था, चाहिए था
ब्रज समस्त-कुलांगना को महा पातक से बचाना,
और इस अंधे प्रमादी उग्र यौवन से न जो कुछ
देख ही सकता न सुनने का जिसे अभ्यास कोई।'

राधा—

जानती हूँ सखी, यह सब, वश नहीं है किन्तु मेरा।

विशाखा—

भूलने वाली नहीं थी भूल जान क्यों गई है!
हाय, भीगे बिना क्या सखि, भव-नदी तैरी न जाती?

राधा—(विवश-सी होकर)।

क्या करूँ, कैसे करूँ, सब-कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
पैर ले जाते मुझे अनजान में यमुना नदी-तट।
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है?

विशाखा—

हाय, कितना सरल, कोमल, तरल है नारी-हृदय यह
दूध-सा मीठा, धवल, निश्छल बनाया कौन विधि ने
जो पिघलता स्वयं गल-गल प्रेम औ' सौन्दर्य पाकर
और खिलता है कुमुद-सा स्वयं ही विधु-प्रिय निरखकर
देखता कुछ भी न कोई नियम-बंधन धर्म जग का!

राधा—

मुझे क्या था ज्ञात मेरा सुख बनेगी द्वन्द्व-दावा
और जीवन का चिरसा जलकर जलाती ही रहेगी।

विशाखा—(पास जाकर)

सखी, तुझसे क्या कहूँ जाने विधाता ने लिखा क्या ?

राधा—

उस मुकुट छवि-माधुरी पर सभी कुछ अर्पण हुआ है।

विशाखा—

मानवी क्या दानवी, देवी, नगी, सुर, असुर, किन्नर,
यक्ष औ' गन्धर्व जाने मूक-से क्यों हो गए है ?
तान सुनकर तरु-लता, नद-नदी, जड, नक्षत्र-भूधर
भूल मानो सब गये हैं। कौन जाने स्वर-लहर वह
कौन जादू से भरी है प्रणय के निश्वास-भीगी।

राधा—(जागती-सी)

सभी अन्तर मे वही छवि, सभी प्राणों मे वही स्वर,
सभी भावों में वही धुन, सभी गीतों मे वही लय,
वृक्ष जैसे मूक-से मृदु-तान सुनने को समुत्सुक,
नदी जैसे तृपित-सी, लहरें महा आकुल भ्रमित पथ,
प्राण हो सब विश्व का केवल जडित उस मुरलिका मे।
सुना मैंने बहुत दिन देखा कि जब डूबा हृदय सब
प्राण जीवन-माधुरी की लहर में घुल-घुल गया मिल।

कौन सा माधुर्य लेकर धरा पर उतरा कि उसने
बना डाला जगत् पागल, व्यथित कर डाला हृदय री,
और मथ डाले पुराने सभी य संस्कार-सागर,
पीस डाली रूढ़ियाँ औ' ढहा डाले नियम जग के।

विशाखा—

हम विशद ध्रुव सत्य-सी पति-भक्ति की मर्याद वाली
चली आती थीं न जाने कहाँ से इतिहास-सी बन
चित्र-सी, निर्बाध सरिता-सी असीमित रागिनी-सी।

राधा—

देखती हूँ सभी बन्धन, शक्तियाँ, मर्याद, सीमा,
अवधि सारी तोड़ डाली इस अलौकिक व्यक्ति ने आ।

विशाखा—

क्या कहूँ किससे सखी, मैं भूल सारे नियम बन्धन,
छोड़ जग आचार-लज्जा घूमती ले हृदय-विह्वल
रात-दिन, सन्ध्या-सवेरे, दुपहरी इस कुंज वन में।
गूँजती है कान मे ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप, वह छवि
नेत्र मे। सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।

राधा—

तब न मैं ही, हूँ अकेली सब कुसुम ही शूल-सहचर।

विशाखा—

अभी उस दिन घूम-फिरकर देर से लौटी जभी घर,

देख माता ने भयकर भर्त्सना की, कँप गया मन,
डाल निशि-भर धुप अँधेरी कोठरी मे अन्न जल बिन
मार कोड़ा की लगाई प्राण तक भी तिलमिलाये,
पर न फिर भी भूल पाई उसे, मानस-प्राण-धन को।
मुक्त होते ही चली उस ओर, फिर भी उसी घर को।
'यह कहूँगी,' 'यो कहूँगी' नई गढ़कर बात उनसे
किन्तु भूली देखकर छवि, मुस्कराहट सभी सुध-बुध
और जब पूछा यशोदा ने कि "क्यो आई यहाँ फिर
जननि तेरी गालियाँ सो सौ सुनाकर अभी लौटी ?
क्या बिगाडा कृष्ण न सबका कि उससे क्रुद्ध जग है ?
सभी आतीं ग्वालिने अभियाग लेकर नित्य नूतन
और पाकर कृष्ण को संकेत से मानो बुलातीं.
मुझे लखकर गालियाँ देतीं, उलहन भी सुनातीं
है उसी के ? क्या कहूँ मैं हैं विकट अभियोग सुत के ।।"
कृष्ण से कहने लगीं—"सुत, है तुम्हारे शत्रु सारे।"
फिर अचानक वज्र सा आकर लगा पाया कि उसने
कृष्ण के सँग बात करते और हँसते-मुस्कराते;
धरा-सी खिसकी पगों से मैं प्रभा-हत और लज्जित
हो गई पानी, भगी लेकर मनोरथ अधफले ही।
खोजती हूँ तभी से इस कुंज मे आकर निरन्तर
दृष्टि भरकर छवि निरखने और ध्वनि सुनने जडित-सी

देखती मैं ही नहीं, यह जगत् सारा

हुआ पागल।

राधा—(सूखी हँसी हँसकर)

धन्य तू हँस बोलती उनसे ललककर प्रिय विशाखा!

हाय, लज्जा-स्नात-सी, जकड़ी हुई, जीती-मरी-सी

मैं न उनको सुना पाई दृष्टि भरकर सामने हो

हृदय की गाथा सखी, जो गूँथ युग से थी सहेजी।

क्या न कोई यत्न ऐसा—

विशाखा—

प्रिय-मिलन दर्शन निरन्तर!

राधा—

चाहती हूँ,

विशाखा—

पर विषम उस मार्ग पर चलना पड़ेगा।

राधा—

यही बस, मैं लाज तज, मर्याद-बन्धन तोड़, कुल-जग,

त्याग सब कुछ बन वियोगिनि मुक्तजीवन हो सकूँ री।

है यही इच्छा मुझे प्रिय, है यही कांक्षा मुझे सखि!

ब्याह से ही पूर्व बचपन में मुझे ऐसा लगा अलि,

है न कोई पति हमारा औ' न हम नारी किसी की,

किन्तु विधना ने न जाने क्यों मुझे फिर बाँध डाला

जगत्-बन्धन मे । न कोई किसी का बन्धन मुझे प्रिय।
दम्पती के धर्म का पालन न मै कर पा रही हूँ,
पति-वियोगी मैं विनिस्पृह, आज तक दोनों अपरिचित,
अमरवल्ली-सा न जाने कौन तरु जीवन हमारा।
नाव पर बैठा दिया है अपरिचित मल्लाह की री,
पार करने को मुझे संसार-सागर, कौन जाने
कौन वह, मैं कौन, केवल एक झोंके से मिले है ?

विशाखा—(आश्चर्य से)

देखती पीयूष-धारा मेघ से होकर समुज्झित
मचमती आकाश से उन्मुक्त उतरेगी धरा पर
और जीवन मे अनश्वर सुरभि-सी भरती हृदय को—
विश्व की वासन्तिका में अमरवल्ली हो रहेगी।
या कि फिर निःशेष हो, गिर तुहिन-सी दल-किसलयों से
भर्त्सना की व्याल-जिह्वा का विषम विष हो जलेगी !
आ चलें, देखें किधर, कैसे, कहाँ उन्माद जाता
मूर्त-सा उन्मूर्त सा विश्वास की आराधना को ?

राधा—

हाँ चलो यह हृदय का द्रव बह चले उस ओर, उस पथ,
जहाँ जीवन-गर्त्त मे तैरा करे, डूबा करे !

दूसरा दृश्य

समय—रात्रि का प्रारम्भ

(उसी निकुंज में यमुना का तट । वर्षा के बाद सब-कुछ धुल-सा गया है । सब ओर हरियाली दिखाई दे रही है । मोगरा, गेंदा, मालती, गुलाब के फूल खिले हुए हैं । उनकी सुरभि से सम्पूर्ण प्रदेश महक उठा है । यमुना के किनारे वट का एक वृक्ष है, जिसकी सघन छाया में पूर्णिमा के चन्द्रमा का प्रकाश छन-छनकर गिर रहा है । अवकाश में प्रकाश का रूप कहीं गोल, कहीं चौड़ा, कहीं त्रिकोण, कहीं चतुर्भुज होकर पड़ रहा है । सामने यमुना बह रही है । उसकी धार पर चन्द्रमाकी किरणें चाँदी की वक्र नालिकाओं के समान दीख पड़ रही हैं । कभी-कभी ऐसा दीख पड़ता है मानो यमुना की सतह पर किसी ने चाँदी बिछा दी हो या कहीं से अनन्त हीरक-राशि लाकर उँडेल दी हो या नीले जल पर किसी ने स्फटिक का बुरादा बिखेर दिया हो । वहीं कुछ हटकर शुभ्र प्रकाश में कृष्ण वंशी बजा रहे हैं । कोई पास नहीं है फिर भी ऐसा दीख पड़ता है मानो जल का देवता वरुण तथा वृक्षों की स्वामिनी वन देवी अपने सम्पूर्ण यौवन-प्रहरियों के साथ शिथिल-सी, अलसाई-सी वर्त्तमान है । कृष्ण का रूप उस समय के आकाश के समान स्वच्छ और मधुर, सिर पर मुकुट, पीठ तक लहराते हुए बाल जो काली रेशमी डोरी से बाँध

दिये गए हैं। प्रशस्त ललाट, चमकता मुख, उभरी नुकीली नाक, रेख फूट रही है। बलिष्ठ बाहु, सुता हुआ गठीला शरीर, न बहुत लम्बा न छोटा कद। कमर में फेंटा कसा हुआ, पीला तथा रेशमी वस्त्र, भोली भाव-भंगी, ज्ञानमण्डित मुखाकृति, सरसता और सरलता तथा सौन्दर्य के अवतार। वंशी में जैजैवन्ती का राग बज रहा है। स्वर-लहरी मानो उस सम्पूर्ण प्रदेश में प्रतिध्वनित हो रही है। केवल वंशी का स्वर है और सब मूक। वंशी बजते-बजते इतनी तन्मयता छा जाती है कि पक्षी जो कभी पहले चहक उठते थे वे भी चुप हो गए हैं, मानो किसी ने उन्हें मंत्र-मुग्ध कर दिया हो और सौन्दर्य-सरसता का सम्पूर्ण चित्र वन का वह भाग हो गया हो। वंशी बजती ही रहती है और दीख पड़ता है गायें भागी चली आ रही हैं और आकर कृष्ण के पास खड़ी हो गई हैं—चुप। बछड़े, जो कुछ गायों के पीछे दौड़ रहे थे, रंभा भी रहे थे, आकर एकदम चुप हो गए हैं। उन्होंने दूध पीना छोड़ दिया है। पवन की लहर, यमुना की तरंगें मानो वंशी की लय पर ताल देने लगी हैं। इसी समय वेग से दौड़ती हुई राधा आती हैं। अस्त-व्यस्त वस्त्र, चंचल किन्तु उद्विग्न मुखाकृति। वयस यौवन के उभार पर, दूध-सा श्वेत शरीर, रति मानो संसार के समस्त सौन्दर्य से प्रफुल्लित होकर उसी एक रमणी में साकार हो गई हो। वर्णनातीत सौन्दर्य, शैशव-सा भोलापन, समुद्र-सा गाम्भीर्य, पर्वत-सी स्थिरता और नदी का-सा वेग हृदय में भरा है—किन्तु उस पर भी शान्त। निकट आकर मन्द गति धारण किये और फिर सामने स्थिर रहकर मूक हो जाती हैं। उसकी चेष्टा से मालूम होता है

वह दौड़ती हुई चली आ रही थी, किसी आकर्षण से खिची चली आ रही थी और पास आकर सब-कुछ भूल गई है। उसके हृदय में समुद्र का ज्वार था जो कृष्ण को देखकर भाटे के समान शान्त हो गया है। वह मूक है, निर्वाक् है, स्थिर है और वशीमय हो रही है। दोनो आमने-सामने खड़े है। राधा वशी-स्वर में इतनी तल्लीन है कि वह आँख फाड़े हुए कृष्ण को पूरी तरह नही देख पा रही है, केवल वशी का स्वर ही सुन रही है। उस समय उसे न यमुना दिखाई देती है, न वन का शेष सौन्दर्य, न चन्द्रमा का प्रकाश। कृष्ण भी वशी में तन्मय है। सब अग-प्रत्यग की चेतना मानो वशीमय हो गई है। एकाएक वशी बजना बद हो जाता है, बहुत देर दोनो आँखें बन्द किये मूक-से खड़े रहते हैं। कुछ समय के बाद—)

राधा—

मग्न जीवन-विविड-तम में प्रकाशित मीठी लहर से
कौन तुम अनुराग-सागर, कौन तुम मन्मथ हृदय के ?
अरे बोलो, प्राण बोलो, तान ऐसी छोड़ दी क्यों,
सभी जृम्भित गात्र मेरा, सभी कम्पित विश्व-कानन,
अंग रोमांचित हुए हैं, रोम हैं उद्बुद्ध चेतन,
सुन रहे रह-रह प्रमाथी अग-अंग समुर्वरित-रो ?

कृष्ण—(सरल स्वभाव से)

विश्व-कण-कण मे सुवासित व्याप्त है पीयूष-सरिता
जो हुई प्रच्छन्न नर की कालिमा से, छल-कपट से,

उसी को जाग्रत किया है प्राण ने वंशी-लहर से।
तुम पियो, यह जग पिये, अक्षय मधुर-रस प्राण-पावन
हृदय मे भरता रहे उच्छ्वास की गति-सी मनोहर।
मैं लहर हूँ एक उसकी, उसी सुख की, उसी स्वर की।

राधा—

किन्तु रह-रह मथन करती क्यो हृदय को यह हमारे,
क्यों हमारे प्राण मे मानस-विषय उठते इसे सुन ?
क्या नहीं ब्रज-मात्र मे यह मुरलि की ध्वनि और सुन्दर,
आपकी छवि हमें उस अग्राह्य पथ का पथिक करती ?
क्या न तुम द्विज की कुलीना अगनाओं को लुभाते
वेणु मीठी-सी बजाकर मनोहर एकान्त में आ,
इस निशा मे, यहाँ तट पर, है जहाँ सन्देशवाहक
विहग का रुत, सुमन-मारुत, दुग्ध-फेनिल इन्दु-किरणें,
पुष्प का सौन्दर्य सुरभित द्विगुण, शतगुण, प्राणकर्षण
मन्द-मद मकरन्द विह्वल हृदय मथने को चतुरनर
और उन अज्ञान ललना-जनों को है खींच लाता
जो न कुछ भी भी जानती है हेय क्या आदेय क्या है ?

कृष्ण—(अट्टहास करके)

अरे, यह अभियोग ब्रज की अंगना का आज सुनकर
मुग्ध वनमाली हुआ है क्षुब्ध औ' अक्षुब्ध दोनों,
दोष इसमें है न मेरा—

राधा—(खीझकर)

सत्य है अपराध उसका

जहाँ वन के चतुर्दिक् दावा लगाकर छोड देना

नर अकेला हीन-साधन, भ्रष्ट-पथ, फिर उसे कहना,

यह जडितमति क्यों घिरा आ—

कृष्ण—(हँसकर)

नदी का अपराध ही क्या

जो बही जाती प्रकृत गति उफनती, चढ़ती, उतरती

एक अपनी ही दिशा में सजल करने दग्ध जग को

यदि वहाँ अज्ञान कोई जानता है जो न तिरना

कूदता गहरे सलिल में उभरने की साध लेकर ?

राधा—(उसी भाव से)

हे चतुर, अभियोग हम पर यह लगाया आपने है,

मुग्धमति अनजान नारी जिन्होंने कुछ भी न देखा,

एक केवल, एक सीढ़ी पार ही जो कर सकी है,

और जो कुछ भी न जाने हृदय-अर्पण की क्रियाएँ।

यह न क्या है उस तरह, शिशु-हाथ में दे अस्त्र कोई,

व्यर्थ ही विश्वास उसका, कर न अपना काट लेगा ?

हम समझती है नगर की नारियाँ भी देख छवि को

हृदय-कर्षक वेणु की ध्वनि सुन समर्पण मन करेंगी।

आपकी यह भुवनमोहिनि छवि निरखकर कौन नारी,

कौन ललना, कौन रमणी, धधकती जिसमे पिपासा,

विश्व की है जो न अपनी लाज-कुल-मर्याद तजकर

प्रेम पति का, पिता का, माता-बहन का, बन्धुजन का
त्याग होगी नहीं लज्जाहीन रतिगति-भ्रान्त युवती ?
कौन है वह जो उफनते हृदय के अनुराग को मथ
पथ-विपथ, अथ हृदय-मन्मथ-भरे सागर से मनोरथ
निश्वबन्द्य अनिन्द्य प्रतिमा में न आकर लीन होगी ?

कृष्ण—

व्यर्थ है कहना तुम्हारा तनिक देखो, इधर देखो,
हरित भूधर, पूर्ण शशि, उत्तुङ्गमाली, अतल सागर,
उफनती सरिता, प्रतापी सतत-निर्झर, उषा सुन्दर,
सांध्य लाली, क्षितिज-शोभा, धवल रजनी, फुल्ल कानन,
मृदु-मदिर मकरंद पावन, पवन मीठा, हिम-फुहारें,
प्रकृति के उपहार मंजुल, दग्ध के आधार सुखकर,
—क्या सभी ये विषयवाहक, क्या इसी को जन्म इनका ?
है नहीं सौंदर्य का संगीत का उद्देश्य राधे,
वासनावादी बनाना किसी को उत्तप्त करके।
विश्व का सौंदर्य देखो, बह रहा छल-छल छलकता
स्थूल से, लघु से, महत् से, धरा से, नभ से निरन्तर;
और कण-कण में अपारानद-राशि बिखर रही है
प्राण सीमा को असीमित सरस सागर कर अधिकतर,
क्या न है उद्देश्य कोई प्रेम का, सौन्दर्य का भी
सिवा केवल विषय का सुख और इन्द्रिय-तृप्ति चंचल ?

राधा--

प्रेम क्या यह नहीं, कहता जगत् जिसको हृदय-तर्पण,
मन-समर्पण, तन-विसर्जन, प्राण प्रिय के चरण में गिर ?

कृष्ण—

यह नहीं है प्रेम, यह उन्माद का है रूप गर्हित
देख सुन्दरतर किसी को वासना आकृष्ट होती।
प्रेम अनुभव के पुलक में स्रोत-सा आनन्द से भर
प्राण को, मन को न्हिलाता विसुध-सा करके—तभी तक
प्रेम है वह शुद्ध राधे! वासना उससे उभरती
यदि हृदय में शक्ति का प्राचुर्य उसके हो न पूरा,
उसे जड़ जग प्रेम कहकर व्यर्थ का भ्रम पालता है।
प्रकृति के सौन्दर्य से पुलकित हृदय-विह्वल बना-सा
क्या न शुद्धानन्द देता मत्त-सा करके जगत् को ?
प्रेम आकर्षण, तथा आनन्द आत्मा की अलंकृति
उसे तन का दास बनने नहीं देना शुद्ध, सुन्दरि!

राधा—

किन्तु क्या यह प्रकृति-सम्भव ?

कृष्ण—

है न कोई कुछ असम्भव।
क्या न हम निर्माण करते निज नियति, गति आत्म-रति ले,
कौन-सा है कार्य जो आहार्य कर सकता न मानव ?

धरा का कर हृद्विदारण सलिल इच्छित प्राप्त करता
और भूधर को शिखरयुत चूर्ण कर कण-कण बनाकर
एक सम करके तथा सागर सभी मथ डालता है।

राधा—

क्या कहूँ, कुछ कह न पाती जानती भी तो नहीं हूँ।
जानती हूँ यही केवल गुनगुनाता है हृदय यह।
प्राण, मैं अंगारिका हिम-राशि पर धुक धुक सुलगती
जल रही सौन्दर्य के मृदु गर्व में भर और भरकर
वह जलन, जिसके उजाले मे पिघलतीं वे सुशीतल,
हृदय वल्लभ, स्नेह-कणिका जिन्हे चुम्बन हेतु आकुल
अथक उच्छल-अबल-आशा दिवस में निशि-स्वप्न पाती,
मैं विरह-सौदामिनी की ध्रुव तथा अस्थिर अमृत-सी
अग्नि मदिरा पी हुई साकार सब आकार भूली।
वह्नि वीणा बन गई वशी-लहर मेरे हृदय में।
प्राण के संगीत-गायक, मैं न कुछ भी समझ पाई
ज्ञान-गाथा तर्कनायुत, गहन औ' गभीर बाते,
मैं न कुछ भी जानती हूँ, जानती हूँ एक केवल
मचलने वाला मिला मन, मनोरथ जिसमें सहस्रों
किसी मधु में निमज्जित हो स्वप्न का संसार रचकर
गा रहे हैं क्या न जाने समझ पाना दूर माधव।
चाहती, क्या चाहती हूँ, कुछ नहीं, पर चाहती हूँ

एक तुम हो, एक वंशी, मैं सुनूँ, सुनती रहूँ निशि-
दिवस, पल-पल, पक्ष, ऋतु-ऋतु, वर्ष, युग-कल्पान्त तक भी।

कृष्ण—(सोचते हुए)

मैं जगत् का पाप, मिथ्याचार, छल, विद्वेष हरने
और वास्तव धर्म की संस्थापना का सुनिश्चय ले,
तथा नैतिक प्रेम का ही रूप जग को दिखाने को
यहाँ आया हूँ महाव्रत यही मेरा सत्य राधे!
है न मुझमे पाप कोई, शुद्ध सत्य, अनन्त, अतिबल।

राधा—(कृष्ण की कोई बात भी न समझकर निहोरे के ढग से—)

सत्य कहना हे कन्हैया, तुम न साधारण मनुज हो,
इन्द्र के अवतार हो या वाम-काम-प्रपंच हो प्रिय?
वृद्ध विधिना की न रचना, तुम्हारे सब कर्म न्यारे,
रूप यह जो दामिनी से भी अधिक ऊर्जस्व, वर्चस्,
काम से सुन्दर, कला के पूर्ण, अशिथिल, सृजन, चित्रण,
चन्द्र-से शीतल, मधुर, मोहक, हृदय-से विशद वल्लभ
सत्य-से सुस्पष्ट, मादक सुरा-से, पीयूष-से मधु,
यज्ञ-से अति कर्म, हुत-से ज्वलन, दावा-से भयावह,
प्राण से अति सूक्ष्म संचालन, प्रचालन कर्म से गुरु
गहन गाथा हे अनिर्वचनीय माधव, ब्रह्म जग के!

(हाथ जोडे खडी रहती है।)

कृष्ण—(अपनी स्तुति सुनकर उपेक्षा की हँसी हँसते हुए—)

यह न मैं कुछ जानता हूँ स्नेह का उद्गार राधे!

अंग शिथिल हो गए हैं। चेतना सरस होकर वंशी की लय बन गई। एकाएक लय के साथ ताल देकर नाचने लगती हैं। राधा भी उन्हीं में सम्मिलित होकर नाचने लगती है, उस समय छम-छम की ध्वनि से सारा प्रदेश गूँज उठता है। धीरे-धीरे चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जाने लगता है। बहुत देर नाचते रहने और वंशी-वादन के बाद—)

विशाखा—(जाग्रत-सी होकर)

हृदय मन्मथ-सौख्य से श्लथ, विसुध गृह पथ आज मैं री,
छहरता-सा चल तरल-जल लहर-सा तन-मन तरंगित।

चन्द्रावली—

प्राण चंचल, हृदय विह्वल, विश्व-सबल कृष्ण केवल।

राधा—(भूली हुई-सी)

सुरभि-विह्वल इस दिशा में भानुजा के रम्य तट पर
प्राण की सब चेतनाएँ एक स्वर से गा रही हैं,
गा रही हैं री, मधुरतर हृदय का अनुराग पीकर
मन्दवासित पवन-कम्पन मन भरे स्वर-ताल सारे।
शशि-किरण-सी छलछलाती शुभ्र हीरक-रेख तिरछी
काँपती-सी गुनगुनाती सुन रही हूँ वही स्वर ले
औ' उसी लय में भिगोकर उत्तरंगिनि निज तरंगे
भर उमंगें, विश्व-कण के पुलक में आशा सँजोए
चाल से गातीं, थिरकतीं, उभरतीं, फैलीं, मिलीं-सी
उसी ध्वनि से, उसी स्वर से, उसी लय से, मूर्छना से,

ताल में न्हाई हुई संकोच लघु छाई हुई-सी
पथ-विपथ का, तरु-कुसुम का, सुखद-सा अरमान भरकर
आज मेरे लघु हृदय मे विश्व का मद झर रही है।
मैं सभी भूली, कहाँ हूँ, कौन हूँ, क्या रूप मेरा
एक गीत समस्त-सी अविरल अखिल की मूर्ति मजुल।

विशाखा—

आस, इच्छा औ' सभी आकांक्षा, अधिकार भूली
क्या न जाने हो गई हूँ रति-विरति की एक ध्वनि ही।

सब—(कृष्ण की ओर सकेत करके गाती है—)

(गीत)

हम कितनी लघु, कितना जीवन, कितना मीठा ससार सखे!
सरिता भी लघु, सागर भी लघु, आनन्द अनन्त अपार सखे!

जो समा न पाता जीवन मे,
जो बिखर न जाता जीवन मे,
जो उठता रह-रह रोम-रोम,
जो फैला कण-कण, व्योम-व्योम,

अधखिली कली के स्वप्नों-सा हो उठा वही साकार सखे
हम कितनी लघु, कितना जीवन—

कृष्ण—

है क्षणिक सभी कुछ यहाँ अरी,
छीजती विपल-पल प्राण तरी,

अक्षय उस जीवन का प्रकाश,
जिसका जग केवल एक श्वास,
यह सभी कलाएँ निर्जर के निर्झर की सतत फुहार सखे !
हम कितने लघु, कितना जीवन—

राधा— लहरों-सा लहराता छल-छल,
बल खाता जाता सरिता-जल,
कलियाँ यह मीठी गन्ध सनीं,
क्या नहीं हमारे लिए बनीं ?
हम क्यों न पिये छल-छल करते जीवन का पारावार सखे !
हम कितनी लघु, कितना जीवन—

कृष्ण—

है यही तो शुद्ध-सात्विक, सरस-रस जीवन मही पर
हो न उसमें यदि कहीं भी लेश मानव वासना का।

विशाखा—

किन्तु यह तो कठिनतम है योगियों का कार्य होगा

चन्द्रावली—

हम अबोध, अजान माधव, जान यह कैसे सकेंगी ?

कृष्ण—

किन्तु हममें भी वही है प्राण जो इस जग के पुलक मे

(गीत गाते हुए उठते है और उनके साथ सब उठती है ।)

(गीत)

हम क्यों उसके पीछे डोलें जो भरता पावन राग नहीं,
भरता जीवन में है विष नित औ' भड़काता है आग नहीं।

जिसने कर डाला 'इति-अथ' पथ,
लथपथ-लथपथ सब रुधिर-सिक्त,
जिसने पी डाला मथ-मथ मन
जग का विवेक कर प्राण-रिक्त।

उसके आँसू का बोझ सभी उड़ जाये बन्धन त्याग नहीं।
हम क्यों उसके पीछे डोलें—

(दूर तक ध्वनि सुनाई देती है।)

तीसरा दृश्य

समय—रात्रि

(उसी कुंज में पहले की तरह सब ओर शरद की पूर्णिमा का प्रकाश फैल रहा है। चन्द्रोदय से सब ओर दुग्ध-स्नात-सा धवलित हो गया है आनन्द की तरह श्वेत। राधा उसी कुंज में एक शिला-खण्ड पर बैठी है। उसने वैसी एक वंशी बना ली है जो उस समय उसके हाथ में है। प्रतीक्षा से कभी राह की ओर देखती है, कभी चित्त के उद्वेग को दूर करने के लिए उठकर इधर-उधर घूमने लगती है। फिर बैठ जाती है, फिर लम्बी साँस लेकर खड़ी होकर देखने लगती है। पत्तों के खड़कने से चौकन्नी-सी होकर उधर देखने लगती है। इतने में एक ओर से आने की-सी आहट सुनाई देती है, सतर्क होकर उधर देखने लगती है, मानो क्षण-क्षण निश्चय की ओर बढ़ रहा है। छाया-सी कुछ पास आती देखती है। ध्यान से देखने पर जानती है कि एक गाय पास से आकर निकल गई है। हताश होकर फिर बैठ जाती है। एकाएक वंशी बजाने लगती है, बजाने का पूरा यत्न करने पर भी उसे ज्ञात होता है, वंशी ठीक नहीं बज रही है। स्वर बिखरकर बोल रहे हैं, लय नहीं सध पाती। फिर उठकर इधर-उधर फिरने लगती है। अन्त में गाने लगती है—)

(गीत)

चिर प्रतीक्षा, चिर-मिलन की रात
उलझता क्यों आँधियों में भाग्य के अज्ञात।

हृदय की सब शृंखलाएँ
तोड़कर अनजान,
अलख सीमा-हीन पथ को
चल पड़ी पथ मान।
एक साहस है पुराना,
एक टूटी आस।
कहाँ जाऊँगी न जाना,
वहाँ प्रिय का वास ?

कण्टकित पथ, तिमिर-रजनी, धुन्ध-धूमिल वात
चिर प्रतीक्षा, चिर मिलन की रात।

(विशाखा का प्रवेश)

विशाखा—

आज कोकिल कण्ठ से भी सरल मीठा गान सुनकर,
मुग्ध-सी मैं हो गई हूँ, हो गया तन-मन प्रफुलित
रोम-रोम प्रहृष्ट राधे, हृदयहारी स्वर-लहर यह।
भर्त्सना, कटु-व्यग्य, निर्वासन तथा अति दण्ड सारे
छिले छाले, पके क्षत की तरह सहती आ रही थी
किन्तु तेरे स्वर-मधुर ने, गीत ने पीड़ा बहा दी।

राधा—(उसी तन्मयता में)

भूत-आगत बीच वेला वर्त्तमान अमान-लघु-सी
यह समीहित मधुर धारा आज आई कठिनता से,
पर न वे आये जिन्हें हम चिरन्तन अभिलाष रख उर
इस महान् विकल्प जीवन में हृदय सम चाहती हैं।
आज के क्षण प्रतीक्षा के युगों से लम्बे न जाने,
प्रलय से भारी न जाने, याद से मीठे न जाने,
गरल औ' पीयूष-मिश्रित तिमिर औ' आलोक-मिश्रित।
क्या हुआ, वे क्यों न आये—एक स्मय पर समर्पित थीं
सभी जीवन की शुभाशा, तप्त प्राणों की पिपासा।
क्या हुआ, वे क्यों न आये, बाँधकर जो ले गए हैं
सभी अन्तर की प्रतिध्वनि, गति, नियति, रति राशि-राशि ?
क्या हुआ वे क्यों न आये, देखती आँखें बिछाये
सम-विषम-पथ पर अकेली हृदय का स्पन्दन सुलाये,
क्या न तू कुछ भी कहेगी, क्या कहे बिन रह सकेगी,
क्या न है तूफान तेरे प्राण-मन में गगनचुम्बी ?

विशाखा—

मैं कहाँ जाऊँ सखी री, सब हुआ है व्यर्थ जीवन
उधर है परिवार मेरा, शत्रु मेरा, काल मेरा
भर्त्सना परिवार की सहते पका है आज यह मन।
इधर है यह आग जलती निशि दिवस पल-पल हृदय में

निठुर मन क्या मानता है पकड़ ली जो राह इसने,
—राह जिसका छोर कोई नहीं गाया सत्य तूने
'अलख, सीमाहीन पथ को चली सीमित मान' मैं भी।

राधा—

मैं कहूँ किससे कि होता क्या रहा है साथ मेरे,
अग्नि-दाह हुआ न जीवित का यही था शेष मुझको,
भर्त्सना, कुत्सा, अनादर, व्यंग्य, गर्हा क्या न पाया ?
अभी उस दिन क्या कहूँ री, श्वसुर मेरे गृह पधारे
कहीं से कुछ सुन-सुनाकर उचककर कहने लगे यों,
"मैं कुलीन महान् सुत भी,—क्यों न यह जीती मरी है;
यह सुवंश-कलकदायिनि, लांछिता, कुलटा, कृतघ्ना !
क्या इसे है लाज कोई नहीं, सब क्या धो गँवाई ?
मैं न ऐसी से रखूँगा भूलकर सम्बन्ध कोई,
है पतित अथ गर्ह्य पातक-लांछिता वृषभान-पुत्री।"
और इतना कह पिता से भग्न सब सम्बन्ध करके
चले ही तो गये माता-पिता को वरदान देकर
रुदन का, अपलाप का, पर मैं सुखी थी, दुःख छूटा;
किन्तु प्रातः हो न पाया एक अभिनव और आया
विनय, अनुनय, दीनता की, त्रास की प्रत्यक्ष प्रतिमा।

विशाखा—

कौन था वह, कौन था सखि !

राधा—
वही जिसका जनक जल-भुन
दे गया सौ-सौ मनोहर, शुद्ध, सालङ्कार गाली।

विशाखा—

हाँ, अरे हाँ ठीक, मैं भी सोचती थी कौन होगा?

राधा—

खूब तत्ते हुए पहले पिता की अनुकारिता कर
किन्तु मैं तो मौन थी जड़, मूक-सी मानो किसी ने
सी दिये हों होंठ केवल कान थे श्रवणार्ह चेतन
सभी सुनने के लिए, औ' हृदय को पावक समझकर
हीन-प्रत्याशा अपरिमित शब्द जल से डुबो देकर
किसी ने जैसे चुना हो पात्र निन्दा का मुझे ही।

विशाखा—

और है ही पास क्या विधि के नवाविष्कार नर के?

राधा—

फिर विनय अनुनय किया पादान्त समझाया बहुत कुछ,
किन्तु मैं तो सत्य ही पाणिग्रहण से विरत ही थी।

विशाखा—

क्या न कन्या का बना अधिकार कोई भी कहीं भी
क्यों कड़ा प्रतिबंध निर्दय पिता के स्वेच्छाचरण का?

राधा—

यही तो कहते कन्हैया, विश्व में है भ्रांति भारी,

नालियों से जिस तरह बहता निरन्तर वारि फिर भी
पंक, काई और पिछलन जमा रहता, रूढियाँ भी
हैं इसी विधि अंक का विश्वास भी तो सब जगह ही,
रूढ़ियाँ ही नर-पतन का एक कारण महापंकिल।
स्वयंवर ही शुद्धि विधि है जहाँ कन्या का सुनिश्चय
दृढ़ प्रतिज्ञा प्रकृति करती दीर्घ-जीवन-पथ-विनिर्णय।

विशाखा—

किन्तु माता-पिता भी तो योग्य वर ही ढूँढ़ते हैं ?

राधा—

ठीक होगी यह प्रथा भी, किन्तु, मैं तो मानती हूँ,
सदा कन्या को वरण मे स्वेच्छ होना चाहिए ही।
यही है अधिकार उसका, दें पिता माता स्वमत भी।
दान के ही पूर्व मैंने प्रकट अपना मत किया था।

(श्रीकृष्ण का प्रवेश। उस वन-श्री तथा चन्द्र-शोभा में राधा और विशाखा को देखकर)

कृष्ण —

अहा, यह क्या हो रहा है, इस शरद की पूर्णिमा में,
चन्द्रिका-विच्छुरित बेला मनहरण पल-पल प्रकृति की,
विभव-सा बिखरा हुआ है राशि राशि अमन्द-सा समय ?

विशाखा—

आपका क्या मत कन्हैया, है सुता-दायित्व के हित

क्यों न कन्या को वरण मे स्वेच्छ होना चाहिए ही ?

कृष्ण—

क्या कहूँ, मैंने न सोचा, जानता हूँ किन्तु इतना,
स्वयंवर ही है सनातन आर्य सम्मत जनप्रथा शुभ,
किन्तु स्वेच्छा से वरण के अनन्तर कर्तव्य अपना
निभाना तो चाहिए फिर प्राण पर ही क्यों न बीते ।

विशाखा—

आपका भी यही मत क्या, भूल हा, जग सब गया है ?

कृष्ण -

निडरपन, दृढ़ता यही दो गुण समाजाधार कारण
सभी जीवन मे हमारे निरंतर यह गुण अपेक्षित,
किंतु 'दृढ़ता' का न है यह अर्थ 'परिवर्तन न होना'
सतत परिवर्तन जगत् के श्वासा में, अणु में भरा है ।
यथा अपने स्वास्थ्य के हित अपेक्षित है स्नान-रेचन,
यथा गृह की शुद्धता के हित परिष्कृति ग्राह्य है अति,
और है उद्यान तरुहित, विकर्तन, रोपण, विलोपन,
है अभीष्ट समाज को भी अनुपयोगी की विनिष्कृति,
और जीवन के लिए संग्राह्य उपयोगी प्रकृतगति ।
ऋतु-कुसुम-सम कालकृत आदेय-हेय. विधान बनत ।
अनुपयोगी त्याज्य, उपयोगी सदा स्पृहणीय, है यह
एक तत्त्व महान्—

राधा— रहती फिर नहीं कोई व्यवस्था।

जो किसी को अनुपयोगी अपर को उपयुक्त है वह।

कृष्ण—

है विवेक समग्र मूलाधार मानव-चेतना का
फलाफल ही उचित निर्णय ज्ञान का अज्ञान का है।
प्रकृति के अनुकूल अपने-आप हैं सिद्धान्त जग में
वे सदा ही, सब समय ही एक-से रहते धरा पर।
है विवाह महान् दोनों प्राणियों का हृदय-कर्षण
स्नेह दृढ करता उसे, सन्तति अलक्षित प्राणबन्धन।
किन्तु, मानव-रचित वह संसार के औ' व्यक्ति के हित—
छेद्य होता हुआ भी अच्छेद्य माना धर्म ने है।

राधा—

धर्म क्या है, जगत् जिसके पल-विपल प्रत्येक पथ से
दुहाई देता रहा है, दे रहा है, क्या न जाने ?

कृष्ण—

धर्म है केवल समाजोन्नति, स्व-उन्नति, राष्ट्र-उन्नति
आत्म-चिन्तन, लोक-हित, कर्त्तव्य-पालन बस, यही तो।
धर्म के दो रूप हैं ' सामान्य और विशेष, जिनमें
प्रथम है प्राकृत सनातन, दूसरा मानव-रचित सब।
पशु नहीं हैं, हम मनुज हैं, मनुज ही रहना अपेक्षित।
है प्रधान समाज सबसे, धर्म-शासन अंग उसके।

मानवी मानव-सदृश ही अंग श्रेष्ठ समाज की है
सत्य-करुणा-स्नेह से जो सींचती है सृष्टि का तरु।
स्त्रीत्व जागृति-शान्ति-सुख है, युद्ध है नर का पराक्रम
जो दया के, स्नेह के औ' स्वार्थ के अतिरेक में उठ
कलह जीवन में मचाता क्रान्तियों को जन्म देकर।

विशाखा—(आश्चर्य से)

अरे, इतनी बहुत बातें कहाँ से जानीं कन्हैया ?

(कृष्ण मुस्कराते हैं,)

राधा—(आँखों में आँखें डालकर)

महागुरु, रमणीय, प्रियवर, छवि-सुखद, मदसिन्धु मेरे
तुम्हें पाकर भूल जातीं हम सँभार-सुधार माधव !
रात-दिन कुछ भी न जाते देख पड़ते, देख पड़ते
एक केवल तुम मनोहर। यह हृदय-लघु झील उसके
लघु-विशाल अनन्त कम्पन, अणु-महाअणु में समायें,
निर्झरी हम तुम सरित हो, हम नदी तुम महासागर,
हम हृदय, तुम मूक कम्पन, स्नेह, जीवन, शान्ति उसकी !

विशाखा—

बहुत समझातीं हृदय को बहुत धीरज दे थकीं हम
पाठ करतीं हर घड़ी उपदेश जो पावन मिला है।
किन्तु जो जलती प्रतिक्षण (ठहरकर)—

बुझे कैसे, मिटे कैसे ?

राधा

इस महासागर कदाचित् एक अंजलि मे पियें सब,
एक अंजलि में गगन-घन पी सकें, विद्युत् निगल लें
भूधरों को चूर्ण भी कर सकें, इन कोमल करों से,
और विष भी पी सकें, मर भी सकें, पर जी न सकतीं।

विशाखा - बिन तुम्हारे —

कृष्ण—

यह अवसर सखि, अशुभ है अविधेय धिक् धिक्।

राधा—(निहोरे से)

कौन सा अपमान है जो सहा मैंने नहीं घर पर,
कौन-सा आतंक है जो मिला मुझको नहीं माधव ?
कौन-सी पीड़ा जगत् की जो न हँस मैंने सही है ?
पर कहाँ तक ज्वालसागर को प्रलय के पी सकूँगी ?

कृष्ण—

है न पर यह लक्ष्य मेरा जानता यह कुछ न राधे।
और तुम भी तो कुलीना कन्यका वृषभान की हो।
यह तुम्हे क्या उचित कहना, हम सभी सम वय परस्पर,
है नहीं यह प्रेम यह तो भ्रान्ति है उद्भ्रान्त जग की।

राधा—(घबराकर)

नहीं, मैं तो चाहती ही नहीं—मैं क्या चाहती हूँ,—
कौन जाने, जानती भी नहीं मन की प्रेरणाएँ।

हाय, कैसी हो गई हूँ—साध क्या मेरी नहीं—हाँ,
उबलती रहती हृदय में तप्त प्राणों की पिपासा
मन्दमन्दोच्छ्वास-धूमिज लिखा करती त्रिदिव-गगन पर
कौन सी लिपि में न जाने, क्या न जाने रति विरल सी
डुबाकर मेरे हृदय के रागी रस में कामना द्रुत।
आज चंचल हो उठा है हृदय का उद्रेक सारा
उमड़ पड़ने को उदधि-सा, बिखर जाने को शिशिर-सा।
हाय, यह जीवन न जाने रोग-सा आकर लगा क्यों
ग्रहण-सा, विष-सा, विषम-सा दुर्भाग्यनिधि-सा ?
है न मुझमें वासना का लेश कोई, कहीं केशव !
और होती ही नहीं इच्छा हृदय में पतनकारी,
किन्तु जाने और कुछ क्या सदा कोई खुरचता-सा,
हृदय को अंगार-सा तिल-तिल जलाता-बुझाता रह।
औ' तुम्हें पा सहस्रों शशि-किरण सरसी-स्नात-सा हो
मलय-मारुत चलित-विकसित वल्लरी-मन कान्ति पाता !

कृष्ण—

अरे, यह तो क्या न जाने क्या सुनाई दे रहा है !

राधा—

कहीं भी कुछ भी न माधव, तुम्हीं केवल, तुम्हीं सबल !
(पैरों पर गिर पड़ती है।)

कृष्ण—

(बिना किसी संकोच, बिना किसी अनुभूति के राधा को उठाकर।)

अरे, यह क्या कर रही हो, महा अनुचित है सखी यह,
है न मरा लक्ष्य ऐसा, क्या हुआ तुमको न जाने।
कल सुभ प्रात, यहाँ से मधुपुरी को चले जाना,
आ गए अक्रूर लेने मुझे औ' बलराम को भी।
फिर न जाने लौटना हो या कि रहना हो वहीं पर।
यही सब-कुछ सोच अल्हड-सा उठा तुमसे मिला आ।
नृत्य अथ सगीत का भी तो कहा था आज मैंने।

(सोचकर)

बहुत दिन हम साथ खेले, उठे, बैठे, हँसे, गाया,
हाय, कितने दिन सुखद ये सब बहुत ही शीघ्र बीता
खेल-खाकर दिन बिताये, औ' निशाएँ नाच-गाकर
सभी अब यह स्वप्न होगा,—दूसरा है दृश्य आया।
द्वन्द्व-हीन, अदीन मैं तो कभी साहस का न खोता,
उठो, खेलो, हँसो, गाओ यही तो शैशव सुनाता।
और यह क्या लगा बैठीं प्रेम-झंझट राधिके, तुम
क्या अभी से प्रेम के दिन सखि, महा-जीवन पड़ा है।
बहुत कुछ करना जगत् में तुम्हें भी, मैं तो न जाने
कर सकूँगा भी कि ये सब ठान जो मैंने लिये हैं।

(देखते हैं, राधा के आँखों में आँसू भी आ गए हैं।)

अरे, यह क्या कर रही हो, क्यों, हुआ क्या अरे पगली
(इतने में उद्वेग की अधिकता से वह मूर्छित हो जाती है।)

हैं, हुई हतसंज्ञ यह तो विशाखे, दौड़ो, सलिल दो ।

(विशाखा, जो अपने ही आप किसी विचार में थी, दौड़कर पानी लाती है । कृष्ण इस बीच में कुछ सोचते रहते है और विशाखा के जल लाने पर राधा के मुख पर छिडकते हैं । राधा कृष्ण की गोदी मे सज्ञा प्राप्त करके—)

राधा—

तुम मुझे मानो न मानो मैं सदा ही—

विशाखा— अरी राधे !

कृष्ण—(पूर्ववत्)

अरे पागलपन करो मत, हँसो, खेलो, इधर देखो,
मुझे अब तक कही कोई हुई चिन्ता ही नहीं है ।
द्वन्द्वहीन, प्रमत्त मैं तो सदा चिन्ता-हीन रहता ।
सामने जो आ पडे उसको सहो साहस न हारो ।
हम सभी चेतन कड़ी हैं उस समाज-विशेष की सखि,
उसे ही अच्छिन्न करते रहे यह ही सत्य-सेवा ।
देश का हित भी इसी में, इसी में जीवन-सफलता
देखती तो कंस कैसा दुष्ट सहारक प्रजा का
और भी है देश के राजा अधिकतर नीच, पापी,
जिन्होंने कर्तव्य अपना नृपति का सब भुला डाला,
उन्हीं सबको ठीक करना ध्येय मेरा यही राधे !
चलो, पहुँचा दूँ तुम्हे घर, रात बीती जा रही है ।

(उठने का उपक्रम करते है)

(राधा कृष्ण को ओर देखती रहती है, कृष्ण अपनी धुन मे कहते जाते ह । एकदम कुछ सोचकर राधा कृष्ण के पैरो पर गिर पड़ती ह ।)

राधा—

आज जाना है कन्हैया, आपको मैंने निकट से

(घोर कष्ट के साथ)

आपकी यात्रा सुफल हो, चलो, पाओ, सफलता प्रिय,
और अपनी क्या—

(राधा सिसक-सिसककर रोने लगती है । कृष्ण सप्रेम उसे उठा लेते हैं । विशाखा साश्चर्य कृष्ण को देखती है ।)

कृष्ण—

तुम्हारा चिर सखा हूँ, विदा दो सखि !

(आँखों में नमी आ जाती है ।)

बुलाता है राम कृपा से ध्वनित कर्तव्य मेरा ।

(राधा सस्नेह कृष्ण की ओर देखती रहती है, कृष्ण राधा की ओर देखते रहते है ।)

चौथा दृश्य

एक लम्बे समय के बाद

(पतझड़ के दिन। एक सूखे मैदान में एक फूँस की कुटिया के बाहर चबूतरे पर चटाई बिछी है। राधा बैठी है—बाल बिखरे हुए, जिनमें गुलझटें पड़ गई हैं। मैला और फटा वस्त्र। चिरकाल से जिसने अपने शरीर की सुधि न ली हो, ऐसी कृश, पर सतेज स्त्री की आकृति। शोक और चिन्ता की मूर्ति। आस-पास के सब वृक्ष कंकाल की तरह खड़े हैं। दक्षिण की ओर दिखाई देने वाली यमुना की धार भी बहुत संकुचित हो गई है। राधा बैठी देख रही है, पर उसकी आँखों से नहीं जाना जा सकता कि वह क्या देख रही है। दृष्टि सम्मुख होते हुए भी ध्यान न जाने किधर है। एकबारगी ही उठकर इधर उधर घूमती है। एक ओर देखने लगती है, देखती रहती है। दौड़कर आसन के पास पड़ी वंशी उठा लाती है, और एक वृक्ष के पास खड़ी होकर एक पैर पर दूसरा पैर टेढ़ा करके जमाती हुई वैसे ही, जैसे कृष्ण वंशी लेकर बजाने के लिए खड़े होते थे, खड़ी हो जाती है। और वही पहले दिखाये गए दृश्यों के साथ का 'राग' बजाने लगती है। बजाती है, पर देखती है वंशी वैसी बज नहीं रही है। उसमें वह माधुर्य भी नहीं है, केवल वह बोलती है—निर्जीव-सी। फिर न जाने क्या ध्यान

आ जाता है। वंशी उसके हाथ से गिर जाती है। वैसी ही खड़ी रहकर गाती है---)

(गीत)

कौन युग से पथ निरखती,
हृदय में अंगार भरकर श्वास में पीड़ा छिपाये,
प्राण का उपहार लेकर साधना में स्वर सजाए,
चल रही हूँ मैं युगों से--
युगों के पल-पग परखती।
कौन युग से पथ निरखती!
स्वर सँजोए, प्राण साधे, हृदय का दीपक जलाए,
शूल प्रतिपग, तिमिर ऊपर, तिमिर दाएँ, तिमिर बाएँ,
चली मैं पग-चाप सुनने,
चली चुप-चुप पैर रखती,
कौन युग से पथ निरखती!
फूल-सा हँस झड़ चुका है हृदय का उल्लास मेरा,
सतत पतझर से घिरा-सा, थमा-सा आकाश मेरा,
कहीं भी तुमको न पाकर
आँसुओं में छवि पुलकती।
कौन युग से पथ निरखती!

(इधर-उधर देखकर और ठहरकर)

राधा—

वे गये ऐसे गये मानो कि साँसें ही गई हो,
प्राण भी, हृत्कम्प भी, आशा मनोरथ साथ ही सब।
एक ठठरी रह गई हूँ, भावहीन, निरर्थ-भाषा,
लता स्रस्त कली ढली, मद-लुठित भू, सौन्दर्य-विगलित,
सर्प सी मणिहीन गतमद। घन विनि सृत दामिनी श्लथ,
लुप्त-पथ, निर्जीव, मानो वृत-हीन अरण्यदावा,
शरद के घन-सी विमल जिसका न जीवन-अर्थ कोई,
क्रमरहित अप्राप्य स्वप्नों की कहानी हीन 'इति-अथ'।
रस नहीं जिसमें कहीं भी, स्वप्न भी जिसके हठीले,
हृदय कवलित, जलन भीगी, साधना-पथ से ढली-सी,
शून्य रजनी, शशिप्रभाहत, उषा सूनी, दिवस नीरस,
मैं विगत की साध-सी, जिसका न कोई पा सका पथ
जहाँ ॰ , जा सका है नहीं उलटे पैर लेकर।

(कोई नेपथ्य से कहता हुआ सुनाई देता है)

'भूल री, सब भूल राधा, क्यों चली उस ओर उस पथ
जहाँ का आधार केवल एक टूटी भग्न आशा।
औ' निराशा ही जहाँ है व्याप्त जीवन मे निशा मे।'

राधा—(चकित होकर)

क्या कहा? किसने कहा? मैं भूल जाऊँ, विगत भूलूँ?
है वही आधार जिसका, वही है जीवन-किनारा,

स्वप्न भूलें, प्राण भूलें और निज को भूल जायें ?
प्राण मेरे गुनगुनायें, हृदय का आराव सभी ले,
स्वप्न, जीवन, पल-विपल, अघ-पुण्य, कर्माकर्म, गति, अति
रति, सुरति, प्रिय कृष्ण की ले" नहीं यह सम्भव नहीं आज।

(नारद प्रवेश करते है और कृष्ण भी एक वृक्ष से सटकर छिपे हुए खड़े हो जाते हैं।)

नारद—

क्या यही राधा, प्रबाधित, प्रतर्दित, पीड़ित, दुखी यों
द्वितीया के चन्द्र की-सी कान्ति जिसकी हो गई है ?

राधा—(सामने देखकर और झुककर प्रणाम करती हुई)

हो प्रणाम, महान् गायक, हाँ, वही मैं दीन राधा !

नारद—

अहह, कितना कण्टकित पथ यह तुम्हारा अहित, हितकर
क्या यही उपयोग है पीयूष जीवन का गिराना
गर्त दुख में, व्यर्थ उसके हेतु, जिसने सुधि न ली हो,
और तुमको छोड़कर यों गया जैसे जीर्ण कन्था।

राधा—

धन्यवाद महामुने, उपदेश आदरणीय नारद !
पर अनधिकृत को दिया, की सुधा वर्षा अनधिकृत में।

नारद—(आश्चर्य से)

अनधिकृत क्यों, देखती हो क्या नहीं—

राधा—

हूँ विवश हे मुनि,

है न मुझको ज्ञात कैसी हो गई हूँ, क्या हुई हूँ,
दिवस के लम्बे प्रहर उनकी प्रतीक्षा कर थके-से,
नित्य जाते खोजने के हेतु सत्वर, अलक्षित गति
साँझ दे जाते मुझे जीवन-मरण में खेलने को।
मैं बिछा सम्पूर्ण चेतन, हृदय की पीड़ा दबाये,
श्वास के पथ पर उन्हें ही खोजती रहती निरन्तर,
फिर अलख-सी तिमिर रजनी बिछा देती आ निराशा
विश्व के अन्तर्हृदय में, प्राण में, विश्वास-पथ पर।
सतत उन्मुख वृक्ष मानो विहग-रव के मिस उचककर।
कभी सुनते मे दिखाते पद-ध्वनि, आहट उन्हीं की।

नारद—

क्या तुम्हें है ध्यान कुछ भी नहीं अपने मान का भी,
उस पुरुष से, जो अकेली छोड़ सब ठुकरा गया है,
औ' बसाया कहीं जाकर नया घर, शासन नया पा ?
यह सही होगा कि है वह पुत्र नृप वसुदेव का पर
नंद ने भी तो सदय बन निरन्तर पालन किया था,
औ' यशोदा ने कि जिसने प्राण से भी प्रिय समझकर
स्वयं दुख सह सुखी उसको किया कैसा कृत्य उसका ?

राधा—

यह सभी कुछ तथ्य होगा, कदाचित् इससे अधिक भी,

किन्तु मेरे लिए तो यह प्रश्न ही कोई नहीं है।
मान औ' अपमान तो हैं द्वैत के ही रूप नारद!
कुहू में सब-कुछ अलक्षित, तिमिर केवल, अन्ध केवल
इस तरह संसार मे कोई मुझे मानव नहीं है,
एक वे ही पूर्व में, पश्चिम तथा उत्तर दिशा मे,
और दक्षिण मे, धरा, पाताल, नभ में एक वे ही!

नारद—

खो रही राधे, न जाने क्यों भ्रमित-सी व्यर्थ जीवन।
यह वयस जो मध्य दिनकर-सी प्रखर, पूर्णेन्दु शीतल,
मधुरतम यौवन-तरी क्यों बालुका में खे रही हो!

राधा—(उसी भाव से)

यह सभी कुछ सुन लिया आभारिणी राधा महामुनि!

नारद—(उसी वेग से)

देखता हूँ, व्यर्थ ही जीवन तुम्हारा हो रहा है—
सृजन है सौन्दर्य नारी का गृह-श्री-मार्ग द्वारा।
है यही अतिकर्म उनका पति सहायक सृजन में हो!
है नहीं कन्यात्व औ' पत्नीत्व नारी रूप केवल
शुद्ध रूप महार्घ्य अभिनव विश्व मे मातृत्व ही है।

राधा—

मैं नहीं कुछ जानती नारीत्व का है ध्येय कैसा,
समझ भी सकती नहीं, कह भी नहीं सकती, कहूँ क्या!

घोर'रजनी में विगत के भग्न पर सर्वस्व हुति दे
प्राण का आसव चढ़ाये, स्निग्ध स्मृति का दीप बाले
खोजती हूँ क्या न पाऊँगी, मिलेंगे भी न क्या वे ?
जिधर से ऊषा हसी थी तिमिररजित कोण छूकर,
दैन्य की दृढ़-पीठ पर छल-छल छलकता सौख्य घट धर,
जिधर से यह पुष्प जीवन का कली के स्मृति-पटल लिख
निज भविष्यत् की कहानी, चला तारक चूमने को
और मधु मकरन्द बोझिल-पवन के उन्मुक्त पथ मे
डाल ढीला हो गया था हृत, अनिश्चित हृदय-मर्दित !
देखती हूँ, क्या न पाऊँगी मिलेंगे भी न क्या वे !
वही जीवन-दीप नारद, हृदय, आशा, श्वास, भाषा,
पुलक, चिन्तन, कल्पना, स्वर, ध्यान, कविता, धर्म, श्रद्धा,
प्राण,वे ही, कृत्य वे ही, साधना के देव वे ही,
सभी कुछ उनमें समाया रोम-रोम प्रपंच चेतन !

(आवेग की अधिकता में आकर)

वे यहाँ हैं, वे वहाँ है, हृदय मे, विश्वास-बल में,
कुसुम-कलियों में, लता में, वृक्ष में, सरिता-लहर में
गगन में, पाताल में, भूधर-धरा-जीवन-मरण में !

(ध्यानस्थ होकर गिर जाती है ।)

कृष्ण—(एकदम दु खाभिभूत होकर)

म्लान-कलिका दलित विधि से सत्य ही राधा हुई है !

(राधा को गिरते देखकर—)

नारद—(दुःख से)

हाय, यह क्या ?—

हुई मूर्च्छित वासुदेव, बड़े निठुर तुम ?

नारद (घुटने टेके राधा के सामने बैठकर)

महामुनि, ज्ञानी, अमानी, भक्त, योगी सभी देखे,
जगत् देखा, बहुत देखा पर न ऐसा व्यक्ति देखा।
मैं अभी तक मानता था एक निश्छल भक्ति अपनी,
किन्तु जाना सूर्य राधा, और मैं खद्योत नारद !
चला था पथ से हटाने, परीक्षा लेने कुमति, मैं
किन्तु मैंने विश्ववन्द्य आज राधा-रूप देखा।
कहा था भगवान् ने भी नहीं वैसा भक्त कोई।

(तँबूरे और खड़ताल पर गाते हुए)

[1]निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनुविन्दति खेदमधीरम्,
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम्।
सा विरहे तव दीना राधा—
वहति चलितमिवलोचनजलधरमाननकमलमुदारम्,
विधुमिव विकट विधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम्।
सा विरहे तव दीना राधा—

---

१. यह गीत महाकवि जयदेव के 'गीत गोविन्द' से लिया गया है।

प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव, तव चरणे पतिताहम,
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्।
सा विरहे तव दीना राधा—
ध्यानलयेन पुर. परिकल्प्य भवन्तमतीवदुरापम,
'विलपति, हसति, विषीदति, रोदिति, चचति, मुञ्चति तापम।
सा विरहे तव दीना राधा—

(गाते चले जाते है। नेपथ्य में गीत सुनाई देता है।)

वहसि वपुषि विशदे जलदाभम
हलहतिभीतिमिलितयमुनाभम्
केशव, धृतकेशवरूप, जय जगदीश हरे।

(राधा धीरे-धीरे जागकर आँखें बन्द करके गीत सुनती हुई दुह-राती है।)

राधा—

वहसि वपुषि विशदे जलदाभम्
हलहतिभीतिमिलितयमुनाभम्
केशव, धृतकेशवरूप, जय जगदीश हरे—

(छिपे हुए कृष्ण अचानक प्रकट होकर राधा का सिर उठाकर गोद में रख लेते हैं और राधा आँखें बन्द किये वैसे ही पडी रहती है।)

कृष्ण—(स्वर बदलकर)

"ठीक है वह मोह ममता दया-मायाहीन, निर्दय,
भूल सब-कुछ गया केशव रम गया नव विभव पाकर ?

राधा—(आंख बंद किये हुए उसी ध्यान में)

नहीं, ऐसा मत कहो, वे सुन रहे संसार मेरे
हृदय में बैठे हुए सखि, प्राणप्रिय राधाविमोहन !

(हँसकर)

हन्त, कैसा विशद, अद्भुत प्रेम का परिणाम देखा ?
मरण से भी घोर दु खद, स्वर्ग से भी मधुर पावन,
वज्र से भी कठिन, मानव-हृदय से भी महत्तर यह ?
चाहिए मुझको न कुछ भी प्रेम का प्रतिदान उनके,
वे महान विभूति, मैं लघु, वे सरित्, मैं लहर उनकी,
वे गगन, मै तारिका हूँ, वे उदधि, तूफान मैं री !
वे जगत्-उद्धारकर्ता, मै चरण-रज एक कणिका,
मैं न कुछ भी चाहती हूँ, चाहती हूँ यही केवल
मूर्ति उनकी हृदय में रख, प्राण की आकण्ठ-पीड़ा
छलकती पीती रहूँ, पीती रहूँ युग-युग प्रलय तक !
है न कोई और मुझको कामना इस कामना से ।
वे नहीं होते कि जब तक कहीं भी कुछ भी न होता,
किंतु कहता कौन है वे नहीं मेरे पास रहते ?
गुनगुनाते सदा सुनती और हँसती छवि निरखती ।
विश्ववन्द्य अनिन्द्य प्रतिमा वही जीवन में विलसती
तू चली जा, जा विशाखा, छोड़ दे, छोड़ो मुझे सब
है न मेरे पास कोई प्रश्न औ' उत्तर किसी का ।

सभी भूली ज्ञान-गाथा, पिता माता नहीं कोई ।
सभी भूली, मैं न कोई किसी की केवल उन्हीं की ।
अन्ध छाये, प्रलय गरजे, मुक्त वारिधि विश्व लीले
किंतु मेरा स्वर यही हो, यही ध्वनि हो, यही लय हो
राधिका के प्राण माधव, राधिका के प्राण !

(कृष्ण की आँखों में आँसू भर आते हैं ।)

कृष्ण—हा-हा,

प्रिय सखी, क्या योग्य तुमको इस तरह जीवन बिताना ?

राधा—(आँखें खोलकर) कौन, क्या तुम—?

(राधा आँखें खोलकर कृष्ण की ओर देखती है, देखती ही रहती है, देखती ही रहती है, फिर एक बार ही पगली-सी होकर कृष्ण से लिपट जाती है ।)

पा गई सब स्वर्ग, सब अपवर्ग माधव !

(प्रसन्नता के अतिरेक से उठकर नाचने लगती है ।)

(गीत)

मैं स्वर्ग लूटकर लाई—
जो उफन रहे थे बादल,
इन पलकों पर खाते बल,
बिजली को हृदय लगाकर,
उड़ते थे ले नव-संबल,
उन कम्पित लहरों पर चढ़,

शशि-सागरिका में न्हाई।
मैं स्वर्ग लूटकर लाई—
मैंने वह जीवन पाया,
जो नभ बनकर बिखराया,
कुछ मेघ बने, कुछ तारे,
कुछ रवि-शशि बनकर छाया।
मैं महा विश्व की छवि ले,
मोहन में आज समाई।
मैं स्वर्ग लूटकर लाई।

(इस सीन की ध्वनि बहुत देर तक गूँजती रहती है। मग्न-मुग्ध एवं भाव-विह्वल होकर—)

कृष्ण, माधव, कृष्ण, माधव, राधिका के कृष्ण, माधव!
पा गई सब, पा गई सब स्वर्ग सब अपवर्ग माधव!

(फिर कृष्ण के चरणों पर गिरकर हतसंज्ञ हो जाती है। कृष्ण उसे गोद में रख लेते हैं और देखते हैं उसका शरीर निर्जीव होता जा रहा है। उसके शरीर को हिलाते हैं, 'राधा, राधा, प्रिय, राधा!' कह कर पुकारते हैं किन्तु वह नहीं बोलती। कृष्ण घबरा जाते हैं, उनकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा बहने लगती है। राधा का शरीर सुन्न होता जाता है। कृष्ण फिर 'राधा राधा' कहकर पुकारते हैं। अन्त में स्थिर से होकर—)

कृष्ण—

यह हुआ क्या, हो गया क्या प्रेम-पावन-मूर्ति राधा,

शुद्ध मानव-तत्त्व की —अनुराग की आकाश-सरिता
आज अन्तर्हित हुई है प्रणय-सागर में विषम के,
विषम की—सम की, मनोरथ कल्पना की शुद्ध आहुति !
मैं कहूँ कैसे कि मेरे लिए ही जीवित रही वह
और मेरे लिए ही दी महा-आहुति आज उसने !
नहीं, मैं तो उपकरण था, ध्यान था, मन था, हृदय था,
ज्ञान था, विश्वास था औ' चिन्तना, सीमा, प्रणय की
केन्द्र-सा बन गया पावन प्रणय की उपयुक्त छाया।
यह महा-सरिता प्रणय की, और मैं तट बना उसका।
अकस्मात् अजान आई कहीं से, कैसे न जाने।
वह शरद की पूर्णिमा-सी और मैं जीवन-कुमुद-सा
खिल गया सम्पूर्ण चेतन ले क्षणों को युग बनाकर।
राधिका थी और कोई नहीं केवल प्रकृति-सुन्दरि,
स्नेह की, सुख की, स्पृहा की त्याग की अनुराग-वाणी।
राधिका थी और कोई नहीं, थी वह श्वास, विभ्रम
प्रेरणा, हेला, हँसी, मुसकान मंजुल, पूर्ण-जीवन,
—पूर्ण-जीवन वासना से हीन मानव-कामना का।
राधिका थी और कोई नहीं, केवल कली का स्मय,
पुष्प का उल्लास, विधु का हास, सरिता की तरगें,
—जो खिला, चमका, हँसा, लहरित हुआ स्मृति-जग बनाकर
सदा ही के लिए मानव-श्वास में उन्मुक्त गति से !

वह शिला-सी, वज्रकीलित रेख-सी मनमय हुई है।
धन्य मैं, अति धन्य जननी, पिता, भ्राता, बन्धु, नागर,
धन्य ब्रज की यह धरा, यमुना, निकुंजे, बाट-वीथी,
गाय-बछड़े, सखी-साथी संग पाकर हुए पावन।

(गभीर तथा स्थितिप्रज्ञ कृष्ण राधा के मुख पर हाथ फेरते और उसके बालों को सहलाते हुए)

विश्व की अभिवन्द्य प्रतिमे, राधिके, मेरी प्रतिज्ञा
सत्य से, तप से, हृदय से, प्राण से, कृति से, सुकृति से,
कर्म से, फल-प्राप्ति से, आलोक से छायानुगति-सी,
ब्रह्म से मायानुरति-सी, बद्ध हो तुम कृष्ण से सखि
कृष्ण के सँग ही तुम्हारा नाम होगा, धाम होगा,
प्राण होगा, कर्म होगा, विभव होगा, कामना भी,
राधिके, मेरे हृदय की श्वास-भाषा-कल्पना तुम,
कृष्ण राधामय हुआ है, आज राधाकृष्णमय सब।

(धीरे-धीरे सूर्यास्त होता है। कृष्ण और राधा का रूप अन्धकार में एक हो जाता है और राधाकृष्ण की प्रतिच्छवि उसी अँधेरे में दिखाई पड़ती है।)